अग्निशिखा

अखिल भारतीय पत्रिका
नवम्बर २०२२

पूर्ण योग का सार-सूत्र

अग्निशिखा नवम्बर २०२२ वर्ष ५३, अंक ४, पूर्णांक ६२७

विषय-सूची

पूर्ण योग का सार-सूत्र

(श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ के वचन)

सन्देश/सम्पादकीय	३
अतिमानस और अधिमानस	५
योग की शुरुआत	६
पथ पर बढ़ना	१७
द्रुतगामी विकास	२३
सच्चा आध्यात्मिक जीवन	३७

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४२
'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन' पिछले जन्म की स्मृति	नवजातजी	४४
मिट्टी की देह में (कविता)	डॉ.सुमन कोचर	४७
ताकि वहाँ भी आपको पहचान लूँ...	वन्दना	४८

कम-से-कम मुझे विश्वास है कि अगर मैं सब चीज़ों को शान्ति और धैर्य के साथ देख सकूँ तो इस योग में न दुःख-दर्द होगा न कठिनाई।

हाँ, यह योग शान्ति तथा आनन्द पर आधारित है, दुःख-दर्द पर नहीं।
१२ मार्च १९३६ —श्रीमाँ

सन्देश

अगर तुम ध्यान न कर पाओ तो प्रार्थना करो। जो कुछ तुम करो उसे माँ को समर्पित कर दो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हारी क्रियाओं और तुम्हारे स्वभाव को अपने नियन्त्रण में ले लें।

श्रीमाँ से प्रेम करो, उनकी आराधना करो। आवश्यकता है पूरी तरह उद्‌घाटित होने की ताकि तुम श्रीमाँ के प्रति सचेतन बन सको। प्रेम और आराधना उद्‌घाटन ले आयेंगे। लेकिन, अगर समय लगे तो उदासी में न डूब जाओ, हताशा और विद्रोह को पास न फटकने दो—क्योंकि ये चीज़ें उद्‌घाटन के रास्ते आड़े आती हैं।

श्रीअरविन्द

सम्पादकीय : पूर्णयोग की व्याख्या करना आसान नहीं, क्योंकि इससे अनेकों मार्ग निकलते हैं जिनसे होकर हम अपने अन्तिम और चरम लक्ष्य को पा सकते हैं, और वह लक्ष्य है—अपने जीवन को इसके सभी ब्योरों के साथ—किसी भी वस्तु का परित्याग किये बिना—सर्वांगीण योग, यानी परम प्रभु तक पहुँचना, या दूसरे शब्दों में कहें, उन्हें यहाँ धरती पर उतार लाना। और इसके लिए कुछ मौलिक तत्त्वों, कुछ सारभूत मनोभावों और सहायक अभ्यासों को अपना कर हम इस पथ पर अधिक सुगमता से बढ़ सकते हैं।

अपने इस अंक में हम इस विषय पर श्रीअरविन्द तथा श्रीमाँ की गभीर, सागर-सम विशाल कृतियों की सहायता से सर्वांगीण योग के विभिन्न पहलुओं पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास कर रहे हैं।

वैसे कोरोना-काल में, जब पत्रिका केवल on line निकलती थी, हम इसे नवम्बर २०२० में दे चुके हैं। अब हमारे सभी पाठक इसका लाभ उठा सकें इसलिए आ पहुँचा आपके द्वारे यह अंक।

हर एक जो श्रीमाँ के प्रति मुड़ा हुआ है, मेरा योग कर रहा है। यह मानना एक बड़ी भूल है कि व्यक्ति मात्र अपने ही प्रयास से योग के सभी पहलुओं को कार्यान्वित और चरितार्थ करके "पूर्ण योग" कर सकता है। कोई भी मानव सत्ता यह नहीं कर सकती। व्यक्ति को जो करना है वह यह है कि अपने-आपको माँ के हाथों में सौंप दे और सेवा, भक्ति, अभीप्सा के द्वारा उनके प्रति खुले; तब माँ अपने प्रकाश और अपनी शक्ति के द्वारा उसके अन्दर क्रिया करती हैं ताकि साधना की जा सके। यह भी एक भूल है कि व्यक्ति के अन्दर एक बड़ा पूर्ण योगी या अतिमानसिक सत्ता बनने की महत्त्वाकांक्षा हो और वह यही पूछता रहे कि इस पथ पर मैं कितना आगे बढ़ चुका हूँ। उचित मनोभाव यह है कि तुम माँ के प्रति निष्ठावान् रहो, स्वयं को उनके हवाले कर दो और यही मनोकामना रखो कि तुम वही बनो जो श्रीमाँ तुम्हें बनाना चाहती हैं। बाक़ी सबका निश्चय माँ ही करेंगी और वे ही तुम्हारे अन्दर क्रिया करेंगी।

Champaklal Speaks, पृ. ३३४-३५ श्रीअरविन्द

अतिमानस और अधिमानस

श्रीअरविन्द का काम है धरती का अद्‌भुत रूपान्तर।

मन के ऊपर सचेतन सत्ता के कई स्तर हैं, उनमें वास्तविक दिव्य जगत् वह है जिसे श्रीअरविन्द अतिमानस कहते हैं, यह 'सत्य' का जगत् है। लेकिन बीच में वैश्व देवताओं का जगत् है जिसे श्रीअरविन्द अधिमानस कहते हैं। अभी तक हमारे संसार पर अधिमानस का राज्य रहा है : ज्योतिर्मयी चेतना में यही सबसे ऊँचा स्तर है जहाँ तक मनुष्य पहुँच पाया है। इसी को परम प्रभु मान लिया गया और जो लोग वहाँ पहुँचे उन्होंने क्षण-भर के लिए भी उसके परम सत्य-चेतना होने में शंका नहीं की। क्योंकि, साधारण मानव-चेतना के लिए उसकी भव्यता और उसकी दीप्तियाँ इतनी महान् हैं कि वह उन्हें देख कर चौंधिया जाता है और मान लेता है कि अन्ततः यही सत्य का शिखर है। लेकिन तथ्य यह है कि अधिमानस सच्चे भगवान् से बहुत नीचे है। यह 'सत्य' का स्वधाम नहीं है। यह केवल निर्माताओं का और उन सर्जक शक्तियों और देवों का लोक है जिनके आगे लोग इतिहास के आरम्भ से झुकते आये। और वास्तविक भगवान् के अभिव्यक्त न होने और पार्थिव प्रकृति को रूपान्तरित न करने का ठीक यही कारण है कि अधिमानस को अतिमानस माना जाता रहा है। वैश्व देवता पूरी तरह 'सत्य चेतना' में नहीं रहते : वे केवल उसके साथ सम्पर्क में होते हैं और उनमें से हर एक उसकी महिमा के एक पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।...

इसलिए, अधिमानस में मानव को दिव्य प्रकृति में रूपान्तरित करने की क्षमता न तो हो सकती है, न है। उसके लिए अतिमानस ही एकमात्र साधन है। जो चीज़ जीवन को अध्यात्म बनाने के प्राचीन काल के प्रयासों से हमारे योग को अलग करती है वह यही है कि हम जानते हैं कि अधिमानस की दीप्तियाँ उच्चतम सत्य नहीं, मन और सच्चे भगवान् के बीच केवल एक अन्तर्वर्ती क़दम हैं।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. १८४-८५

योग की शुरुआत

योग के लिए पुकार

तुम योग-साधना किसलिए करना चाहते हो? शक्ति प्राप्त करने के लिए? शान्ति और स्थिरता की प्राप्ति के लिए? मानवजाति की सेवा के लिए?

इनमें से कोई भी उद्देश्य यह बताने के लिए काफ़ी नहीं है कि तुम इस योग-मार्ग के लिए हो।

तुम्हें जिस प्रश्न का उत्तर देना है वह यह है : क्या तुम भगवान् के लिए योग-साधना करना चाहते हो? क्या भगवान् ही तुम्हारे जीवन के परम सत्य हैं, यहाँ तक कि तुम उनके बिना रह ही नहीं सकते? क्या तुम यह अनुभव करते हो कि तुम्हारे जीवन का एकमात्र उद्देश्य भगवान् ही हैं और उनके बिना तुम्हारे जीवन का कोई अर्थ नहीं है? यदि ऐसा हो तभी कहा जा सकता है कि तुम्हारे अन्दर योग-मार्ग के लिए पुकार है।

सबसे पहली आवश्यक चीज़ है, भगवान् के लिए अभीप्सा।

और दूसरी बात है, इस अभीप्सा को सतत बनाये रखना, उसे सदा जीवन्त, ज्वलन्त और जाग्रत् रखना। और इसके लिए जिस बात की आवश्यकता है वह है एकाग्रता—भगवान् पर एकाग्रता जो उनके 'संकल्प' और 'अभिप्राय' के प्रति पूर्ण और निरपेक्ष आत्म-समर्पण के भाव से की गयी हो।

हृदय-केन्द्र में अपने-आपको एकाग्र करो। हृदय में प्रवेश करो, उसके अन्दर जाओ, उसकी गहराई में उतरो और दूर तक, जितनी दूर तक तुम जा सको, जाओ। अपनी चेतना के बाहर बिखरे हुए सभी धागों को एकत्र कर लो, उन्हें समेट कर अन्दर डुबकी लगाओ और तह में जाकर बैठ जाओ।

वहाँ, हृदय की गभीर शान्ति में एक अग्नि धधक रही है। यही है तुम्हारे अन्तर में रहने वाले भगवान् का दिव्य अंश—तुम्हारी सत्य सत्ता (हृत्पुरुष)। इसकी आवाज़ सुनो और इसके आदेश का पालन करो।

एकाग्रता के लिए दूसरे केन्द्र भी हैं, उदाहरण-स्वरूप, एक केन्द्र मस्तिष्क के ऊपर है (सहस्रार), दूसरा भ्रू-मध्य में है (आज्ञा)। इनमें से हर एक का अपना प्रभाव है और हर एक किसी परिणाम पर पहुँचता

है। परन्तु केन्द्रीय पुरुष का स्थान हृदय है और हृदय से ही सब केन्द्रीय प्रवृत्तियाँ निकलती हैं—यहीं से रूपान्तर के लिए समस्त गतिशीलता और लगन एवं आत्मदर्शन करने की शक्ति निकलती है।

योग के लिए तैयारी

योग के लिए अपने-आपको तैयार करने के लिए क्या करना चाहिये?

सबसे पहले व्यक्ति को सचेतन बनना चाहिये। हम अपनी सत्ता के एक नगण्य से भाग में सचेतन हैं, इसके अधिकांश भाग में हम अचेतन हैं। यह अचेतनता ही हमें अपनी प्रकृति के अपरिमार्जित भाग के साथ नीचे की ओर बाँधे रहती है और उसके परिवर्तन या रूपान्तर को रोकती है। अचेतना द्वारा ही अदिव्य शक्तियाँ हमारे अन्दर घुस आती हैं और हमें अपना ग़ुलाम बना लेती हैं। तुम्हें अपने बारे में सचेतन होना चाहिये, अपनी प्रकृति और प्रवृत्तियों के प्रति तुम्हें जाग्रत् होना चाहिये, तुम्हें यह जानना चाहिये कि तुम किसी चीज़ को क्यों और कैसे करते हो, कैसे सोचते या अनुभव करते हो। तुम्हें अपने प्रेरक भावों, आवेशों और अपनी गुप्त या प्रकट शक्तियों को समझना चाहिये जिनकी प्रेरणा से तुम काम करते हो। या यूँ कहें कि तुम्हें अपनी सत्ता की मशीन के सभी कल-पुरज़ों को अलग-अलग करके जान लेना चाहिये। एक बार तुम सचेतन हो जाओ तो तुम खरे और खोटे की परख और छान-बीन कर सकोगे, तुम देख सकोगे कि कौन-सी शक्तियाँ तुम्हें नीचे की ओर खींचती हैं और कौन-सी ऊपर उठने में सहायता देती हैं। और जब तुम उचित को अनुचित से, सत्य को असत्य से, दिव्य को अदिव्य से अलग करके जान लो तो तुम्हें सख़्ती से अपने इस ज्ञान के अनुसार चलना चाहिये, अर्थात्, दृढ़तापूर्वक एक को त्याग कर दूसरे को स्वीकार करना चाहिये। पग-पग पर ये द्वन्द्व तुम्हारे सामने उपस्थित होंगे और पग-पग पर तुम्हें चुनाव करना होगा। तुम्हें धैर्य रखना होगा, लगन लगाये रखनी होगी और चौकन्ना रहना होगा—योगियों की भाषा में "निद्रा-रहित"; दिव्यता का विरोध करती अदिव्यता को किसी भी प्रकार का मौक़ा देने से सदा ही इन्कार करना होगा।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ३-४

योग-पथ

यहाँ जिस योग का अनुसरण किया जाता है उसका उद्देश्य दूसरे योगों से अलग है—क्योंकि इस योग का उद्देश्य न केवल अज्ञानी जागतिक चेतना से निकल कर भागवत चेतना में प्रवेश करना है बल्कि उस भागवत चेतना की अतिमानसिक शक्ति को नीचे मन, प्राण तथा शरीर में उतारना है ताकि वह उनका रूपान्तरण कर दे, यहाँ भगवान् को अभिव्यक्त कर, जड़-भौतिक में भागवत जीवन का निर्माण कर दे। यह एक अत्यन्त मुश्किल लक्ष्य है और अत्यन्त कठिन योग; कइयों को, या यह कहें कि अधिकतम को यह योग असम्भव लगेगा। जगत् की चेतना की सभी सामान्य अज्ञानी शक्तियाँ—जो यहाँ पूरी तरह से जमी हुई हैं—इस नूतन योग के विरुद्ध हैं, इसे नकारती हैं और इसके रास्ते बाधा बन कर आ खड़ी होती हैं और तब साधक अपने मन, प्राण और शरीर को इन घोरतम बाधाओं से घिरा पायेगा जो उसकी उपलब्धि में अड़ंगा लगायेंगी। अगर तुम अपने आदर्श पर जी-जान से डटे रहो, सभी बाधाओं का दृढ़ता से सामना करो, अपने अतीत और उसके पुछल्लों को पीछे कहीं दूर छोड़ दो, सब कुछ का त्याग कर दो और इस भागवत सम्भावना की चरितार्थता के लिए हर तरह का ख़तरा मोलने के लिए तैयार रहो, तभी, केवल तभी तुम अपनी अनुभूति द्वारा इस जगत् के पीछे का 'रहस्य' खोज निकालने की आशा कर सकते हो।

इस योग की साधना किसी बँधी-बँधायी मानसिक शिक्षा अथवा मन्त्र या ध्यान इत्यादि के लिए लिखित किसी प्रणाली के सहारे नहीं चलती, बल्कि यह आगे बढ़ती है अभीप्सा द्वारा, आन्तरिक या ऊर्ध्वमुखी आत्म-एकाग्रता द्वारा, उच्च प्रभाव तथा ऊपर स्थित 'दिव्य शक्ति' और उसकी क्रिया के प्रति आत्मोद्घाटन द्वारा, हृदय में स्थित 'दिव्य उपस्थिति' के प्रति आत्म-समर्पण द्वारा और उन सभी के त्याग द्वारा जो इन चीज़ों के विरोध में खड़ी रहती हैं। केवल श्रद्धा, अभीप्सा तथा समर्पण के द्वारा ही आत्मोद्घाटन हो सकता है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९-२० **श्रीअरविन्द**

पूर्ण योग का सिद्धान्त

स्वयं को 'भागवत प्रभाव' के प्रति खोलना ही इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त है। वह प्रभाव तुम्हारे ऊपर ही है और एक बार तुम उसके प्रति

सचेतन बन जाओ तो तुम्हें उसे अपने अन्दर उतारने के लिए बस उसका आह्वान करना होगा। वह मन तथा शरीर में 'शान्ति' के रूप में, 'प्रकाश' के रूप में, कार्य करने वाली 'शक्ति' के रूप में, साकार या निराकार भागवत 'उपस्थिति' के रूप में, 'आनन्द' के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले व्यक्ति के अन्दर श्रद्धा तथा उद्घाटन के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। श्रद्धा, पुकार, प्रार्थना सभी एक और समान वस्तुएँ हैं और सभी प्रभावकारी होती हैं; इनमें से जो तुम्हारे पास आये या जो तुम्हें सबसे सुगम लगे, तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा तरीक़ा है एकाग्रता का; तुम अपनी चेतना को हृदय पर एकाग्र करो (कुछ सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और हृदय में श्रीमाँ पर ध्यान लगाओ या वहाँ प्रतिष्ठित होने के लिए उनका आवाहन करो। तुम दोनों में से कोई भी विधि अपना सकते हो या अलग-अलग समय पर कभी एक, कभी दूसरी का प्रयोग कर सकते हो—जो सहज रूप से तुम्हारे पास आये या जिसे करने के लिए तुम उस समय प्रेरित होओ। विशेष रूप से, आरम्भ में, सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, मन को शान्त बनाने की, ध्यान के समय उन सभी विचारों और गतियों को अस्वीकार करने की जो साधना के लिए विजातीय हों। शान्त मन में अनुभूति को पाने के लिए प्रगतिशील तैयारी होती रहेगी। लेकिन अगर सब कुछ एक साथ न हो तो तुम्हें कभी भी अधीर नहीं होना चाहिये; मन में पूर्ण शान्ति लाने में समय लगता है; तुम्हें तब तक प्रयास करते रहना होगा जब तक कि चेतना तैयार नहीं हो जाती।

इस योग में सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि क्या व्यक्ति प्रभाव के प्रति खुल सकता है या नहीं। अगर सभी बाधाओं के बावजूद उसकी अभीप्सा में सच्चाई हो और उच्चतर चेतना तक पहुँचने के लिए धीरज से लैस इच्छा हो तब किसी-न-किसी रूप में उद्घाटन होकर रहेगा। लेकिन मन, हृदय तथा शरीर की प्रस्तुत या अप्रस्तुत अवस्था के अनुसार कम या अधिक समय लग सकता है; इसलिए अगर व्यक्ति के अन्दर आवश्यक धीरज न हो तो बाधा का सामना न कर पाने के कारण व्यक्ति आरम्भ में ही प्रयास करना छोड़ सकता है। इस योग में इसके अतिरिक्त और कोई पद्धति नहीं है कि साधक अपनी चेतना को एकाग्र करे, विशेषकर हृदय में,

और श्रीमाँ की उपस्थिति और शक्ति का आवाहन करे कि वे उसकी सत्ता को अपने हाथ में ले लें और अपनी शक्ति की क्रियाओं के द्वारा उसकी चेतना को रूपान्तरित करें। कोई चाहे तो अपने मस्तक में या भृकुटि के बीच भी चेतना को एकाग्र कर सकता है, परन्तु अधिकतर लोगों के लिए इस तरह आत्मोद्घाटन करना अत्यन्त कठिन होता है। जब मन शान्त-स्थिर हो जाता है और एकाग्रता दृढ़ तथा अभीप्सा तीव्र हो जाती है तब अनुभूति का होना आरम्भ हो जाता है। श्रद्धा जितनी अधिक होती है उतनी ही शीघ्रता से परिणाम भी प्राप्त होने की सम्भावना हो जाती है। बाक़ी चीज़ों के लिए साधक को केवल अपने ही प्रयास पर नहीं निर्भर करना चाहिये, बल्कि भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करने तथा श्रीमाँ की 'शक्ति' और 'उपस्थिति' को ग्रहण करने में सफल होना चाहिये।

CWSA खण्ड २९, पृ. १०६-०७ **श्रीअरविन्द**

योग के ख़तरे

पूर्वीय लोगों की अपेक्षा पाश्चात्य लोगों के लिए योग अधिक ख़तरनाक नहीं है। सब कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि तुम इसमें किस भाव से आते हो। योग ख़तरनाक अवश्य हो जाता है यदि वह अपने लिए या स्वार्थ-सिद्धि के लिए किया जाये। और इसके विपरीत, यदि तुम उसकी पवित्रता की भावना को लिये हुए और यह याद रखते हुए कि तुम्हारा लक्ष्य भगवान् को पाना है, योग करो तो फिर योग से किसी प्रकार का भय नहीं रहता, बल्कि वह साक्षात् क्षेम और सुरक्षा बन जाता है।

कठिनाइयाँ और ख़तरे तो तब उपस्थित होते हैं जब लोग भगवान् के लिए योग-साधना नहीं करते, बल्कि किसी शक्ति की प्राप्ति के लिए या योग की आड़ में किसी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए योग करते हैं। यदि तुम महत्त्वाकांक्षाओं से छुटकारा नहीं पा सकते तो इसका स्पर्श मत करो, यह आग है जो जला देती है।...

एक और ख़तरा है, और वह है काम-वासना के सम्बन्ध में। योग पवित्र करने की प्रक्रिया में उन सभी वासनाओं और इच्छाओं को, जो तुम में छिपी पड़ी हैं, उघाड़ देगा और उनको ऊपरी तल पर उठा लायेगा। और तुम्हें यह सीखना होगा कि न तो इन चीज़ों को छिपाया जाये और न ही

इनकी अवहेलना की जाये। तुम्हें इन सब चीज़ों का मुक़ाबला करना होगा, इन पर विजय प्राप्त करनी होगी और इन्हें एक नये साँचे में ढालना होगा। बहरहाल, योग का पहला प्रभाव होता है मानसिक संयम को हटा देना, इससे साधक की वे अतृप्त वासनाएँ, जो उसके अन्दर सोयी पड़ी रहती हैं, हठात् मुक्त होकर ऊपर उभड़ आती हैं और उस पर आक्रमण करती हैं। जब तक इस मानसिक संयम का स्थान भागवत संयम नहीं ले लेता तब तक संक्रमण-काल रहता है और इस काल में तुम्हारी सच्चाई और समर्पण कसौटी पर कसे जाते हैं। काम-वासना और इस प्रकार के दूसरे आवेशों को बल मिलने का प्रायः यह कारण होता है कि लोग इन पर बहुत अधिक ध्यान देते हैं, बहुत तीव्रता के साथ इनका विरोध करते हैं और निग्रह द्वारा इन्हें रोके रखना, अपने अन्दर ही किसी तरह दबाये रखना चाहते हैं। परन्तु तुम किसी चीज़ के बारे में जितना अधिक सोचते हो और कहते हो: "मैं उसे नहीं चाहता, मैं उसे नहीं चाहता," उतना ही अधिक उससे बँधते जाते हो। तुम्हें करना यह चाहिये कि उस चीज़ को अपने से दूर रखो, उससे सम्बन्ध तोड़ लो, उस पर कम-से-कम ध्यान दो और, इस पर भी यदि वह कभी तुम्हारे चिन्तन में आये तो उससे उदासीन और निर्लिप्त रहो।

योग का दबाव पड़ने के कारण जो इच्छाएँ और वासनाएँ ऊपर उभड़ आती हैं उनका अनासक्त रह कर, शान्ति के साथ मुक़ाबला करना चाहिये, यह समझना चाहिये कि ये विजातीय वस्तुएँ हैं अथवा बाह्य जगत् की चीज़ें हैं जिनसे तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है। उन्हें भगवान् को सौंप देना चाहिये ताकि भगवान् उनको अपने हाथ में ले लें और उनका रूपान्तर कर दें।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-८

दिव्य जीवन का योग

ऐसा लगता है कि तुम्हारे अन्दर पुकार उठी है और शायद तुम योग के लिए तैयार हो; लेकिन योग में विभिन्न पथ हैं और प्रत्येक का भिन्न उद्देश्य और लक्ष्य होता है। सभी पथों में कामनाओं को जीतना, जीवन के सामान्य सम्बन्धों को परे सरका देना और अनिश्चिति से चिरस्थायी निश्चिति में प्रवेश करना सामान्य उद्देश्य होता है। व्यक्ति स्वप्न और निद्रा,

भूख और प्यास इत्यादि पर भी विजय प्राप्त करने की कोशिश कर सकता है। लेकिन मेरे योग का यह उद्देश्य कतई नहीं है कि हमारा संसार से या जीवन से कोई लेना-देना नहीं है, न हमें अपनी इन्द्रियों को मार डालना है और न ही उनका एकदम से निषेध करना है। इस योग का उद्देश्य है, 'प्रकाश', 'शक्ति' और भागवत 'सत्य' तथा उसकी गतिशील निश्चितियों को अपने जीवन में उतार कर उसे रूपान्तरित करना। यह योग जीवन से सिकुड़ कर तपस्वियों का जीवन जीना नहीं बल्कि दिव्य जीवन जीना है। अन्य योगों में समाधि में प्रवेश कर, पार्थिव जीवन से पूर्णतया कट कर सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

CWSA खण्ड २९, पृ. १९ **श्रीअरविन्द**

योग के दो मार्ग

योग-साधना के दो मार्ग हैं, एक है तपस्या का और दूसरा है समर्पण का। तपस्या का मार्ग दुष्कर है, इस मार्ग में तुम सर्वथा अपने ऊपर ही निर्भर रहते हो, अपने निजी सामर्थ्य से ही आगे बढ़ते हो। तुम अपनी शक्ति के अनुपात में ही ऊँचे उठते हो और उसी के अनुसार फल पाते हो। इस मार्ग में नीचे गिरने का भय हमेशा लगा रहता है। और एक बार गिरे तो तुम गहरी खाई में जाकर चूर-चूर हो जाओगे और इसका इलाज शायद ही हो सके। परन्तु दूसरा मार्ग, समर्पण का मार्ग, निरापद और निश्चित है। परन्तु पश्चिमवालों को इसमें कठिनाई होती है। उन्हें यह शिक्षा मिली है कि वे उन सभी चीज़ों से डरें और बचें जो उनकी व्यक्तिगत स्वाधीनता पर आँच लायें। व्यक्तित्व की भावना उनकी घुट्टी में मिली होती है। और समर्पण का अर्थ है इस सबका त्याग। दूसरे शब्दों में, जैसा श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, तुम बन्दर के बच्चे और बिल्ली के बच्चे, इन दोनों में से किसी एक के मार्ग का अनुसरण कर सकते हो। बन्दर के बच्चे को इधर-उधर ले जाये जाने के लिए अपनी माँ की छाती से चिपक जाना पड़ता है, उसे अपनी माँ को कस कर पकड़े रहना पड़ता है और यदि कहीं उसकी मुट्ठी ढीली हो जाये तो वह गिर जाता है। दूसरी ओर, बिल्ली का बच्चा अपनी माँ को नहीं पकड़ता, बल्कि माँ ही उसे पकड़े रखती है, इसलिए उसे न कोई भय होता है न उसका कोई उत्तरदायित्व; उसे तो केवल इतना ही

करना पड़ता है कि अपनी माता को पकड़ने दे और "माँ-माँ" करता रहे।

इस समर्पण-मार्ग को यदि तुम पूर्ण रूप से और सच्चाई के साथ अपना लो तो कोई गम्भीर कठिनाई या कोई ख़तरा नहीं रहता। प्रश्न केवल सच्चाई का है। यदि तुम सच्चे नहीं हो तो योग-साधना आरम्भ मत करो। मानवीय विषयों में धोखा-धड़ी चल सकती है, किन्तु भगवान् के साथ व्यवहार करने में धोखे के लिए कोई स्थान नहीं है। तुम इस मार्ग पर तभी निरापद होकर यात्रा कर सकते हो जब तुम ऋजु, निष्कपट तथा रोम-रोम तक में खुले हुए हो, जब तुम्हारा एकमात्र ध्येय भगवान् का साक्षात्कार करना, उन्हें पाना और उनके द्वारा परिचालित होना हो।

'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. ६-७

सच्चा केन्द्र

अपने संकल्प को दृढ़ रखो। अपने उद्धत भागों के साथ ऐसा व्यवहार करो जैसा कहना न मानने वाले बालकों के साथ किया जाता है। उन पर लगातार और ध्यानपूर्वक क्रिया करते रहो, उन्हें उनकी भूल का एहसास दिला दो।

तुम्हारी चेतना की गहराइयों में विराजमान है चैत्य पुरुष, तुम्हारे अन्दर स्थित भगवान् का मन्दिर। यही वह केन्द्र है जिसके चारों ओर तुम्हारी सत्ता के इन सब विभिन्न भागों को, इन सब परस्पर-विरोधी गतियों को जाकर एक हो जाना चाहिये। तुम एक बार चैत्य पुरुष की चेतना को और अभीप्सा को पा लो तो इन सन्देहों और कठिनाइयों को नष्ट किया जा सकता है। इस काम में कम या अधिक समय तो लगेगा, परन्तु अन्त में तुम सफल अवश्य होओगे। तुमने एक बार भगवान् की ओर मुड़ कर कहा है : "मैं आपका होना चाहता हूँ," और भगवान् ने "हाँ" कह दिया है तो समस्त जगत् तुम्हें उनसे अलग नहीं रख सकता। जब केन्द्रीय सत्ता ने समर्पण कर दिया है तो मुख्य कठिनाई दूर हो गयी। बाह्य सत्ता तो एक पपड़ी की तरह है। साधारण लोगों में यह पपड़ी इतनी कठोर और मोटी होती है कि इसके कारण वे अपने अन्दर के भगवान् से सचेतन नहीं हो पाते। परन्तु यदि आन्तर पुरुष ने एक बार, क्षण-भर के लिए ही सही, यह कह दिया है : "मैं यहाँ हूँ और मैं तुम्हारा हूँ", तो मानो एक पुल बँध

जाता है और यह बाहरी पपड़ी धीरे-धीरे पतली-से-पतली पड़ती जाती है और एक दिन आयेगा जब दोनों भाग पूर्ण रूप से जुड़ जायेंगे और आन्तर तथा बाह्य दोनों एक हो जायेंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९-१०

'भागवत संकल्प' को जानना

तुम पूछोगे कि हम कैसे जानें कि भागवत संकल्प हमसे कब कार्य करवाता है? पर भगवान् के संकल्प को जानना कठिन नहीं है। वह असन्दिग्ध होता है। योग-मार्ग पर बहुत आगे बढ़े बिना ही तुम उसे जान सकते हो। बस, तुम्हें उसकी वाणी को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये, उस सूक्ष्म आवाज़ को जो यहाँ हृदय में होती है। एक बार तुम्हें उसे सुनने का अभ्यास हो जाये तो फिर यदि तुम भागवत संकल्प के विरुद्ध कुछ भी करते हो तो तुम्हें एक प्रकार की व्याकुलता का अनुभव होता है। और यदि तुम उस ग़लत मार्ग पर हठपूर्वक चलते जाते हो तो तुम बहुत अधिक क्षुब्ध हो जाते हो। परन्तु यदि तुम अपनी इस व्याकुलता के लिए कोई बाह्य भौतिक बहाना ढूँढ़ निकालो और ग़लती करते ही जाओ तो तुम धीरे-धीरे अपनी बोध-शक्ति गँवा दोगे और अन्त में नाना प्रकार की भूलें करने पर भी किसी तरह की व्याकुलता का अनुभव न होगा। परन्तु पहली ही बार, ज़रा-सा क्षोभ होते ही यदि तुम रुक जाओ और अपनी आन्तरिक सत्ता से पूछो: "इस क्षोभ का कारण क्या है?" तो तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर अवश्य मिल जाता है और सब कुछ बिलकुल स्पष्ट हो जाता है। ज़रा-सी उदासी या साधारण-सी व्याकुलता का अनुभव होने पर उसके लिए कोई बाहरी बहाना मत बनाओ। कारण का पता लगाने के लिए जब तुम ठहर कर सोचो तो अपने हृदय को बिलकुल सरल और सच्चा रखो। पहले तुम्हारा मन सुन्दर और देखने में सच्चा लगने वाला कोई कारण बतायेगा। उसे स्वीकार मत करो, बल्कि उसके परे जाकर देखो और पूछो: "इस क्रिया के पीछे क्या है? मैं यह क्यों कर रहा हूँ?" अन्त में तुम एक छोटी-सी लहर को, अपने भाव की किसी ग़लत ऐंठन या किसी वक्रता को एक कोने में छिपा हुआ पाओगे जिसके कारण यह कष्ट और क्षोभ हो रहा है।...

तुम्हें उन सभी वस्तुओं को—और केवल उन्हीं वस्तुओं को—स्वीकार

करना चाहिये जो भगवान् के यहाँ से आती हैं। क्योंकि वस्तुएँ छिपी हुई इच्छाओं से भी आ सकती हैं। इच्छाएँ अवचेतना में कार्य करती हैं और तुम्हारे पास ऐसी वस्तुएँ ले आती हैं जिन्हें तुम चाहे न भी पहचान सको, लेकिन ये भगवान् के यहाँ से नहीं, बल्कि छद्मवेशी इच्छाओं से आती हैं।

जब कोई चीज़ भगवान् के यहाँ से आती है तो तुम आसानी से जान सकते हो। तुम अपने को स्वतन्त्र अनुभव करते हो, अनुद्विग्न और स्वस्थ पाते हो और शान्त रहते हो। परन्तु किसी चीज़ के मिलने पर यदि तुम उस पर टूट पड़ते हो और मारे ख़ुशी के चिल्ला उठते हो: "आख़िरकार यह मुझे मिल ही गयी" तो तुम्हें निश्चयपूर्वक यह समझ लेना चाहिये कि वह चीज़ भगवान् के यहाँ से नहीं आयी। भगवान् के साथ योग और सम्मिलन के लिए प्रधान शर्त है, समचित्तता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ११-१३

जब तुम योग-मार्ग पर आओ तो तुम्हें अपने मन के महलों और प्राण की मचानों के ढहाये जाने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें श्रद्धा के सिवाय किसी भी सहारे के बिना हवा में अधर लटकने के लिए तैयार रहना चाहिये। तुम्हें अपने भूतकाल के व्यक्तित्व को और उसकी आसक्तियों को एकदम भूल जाना होगा, उसे अपनी चेतना में से निकाल बाहर करना होगा तथा एक ऐसा नया जन्म लेना होगा जो समस्त बन्धनों से मुक्त हो। तुम क्या थे इसकी चिन्ता न करो, जो बनने की अभीप्सा करते हो केवल उसी का चिन्तन करो; जिस सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हो केवल उसी में तन्मय हो जाओ। मृत भूतकाल की ओर से मुँह मोड़ लो और सीधे भविष्य की ओर देखो। तुम्हारा धर्म, देश, परिवार वहीं है; वह है स्वयं "भगवान्"।

'श्रीमातृवाणी' *खण्ड ३, पृ. ९५*

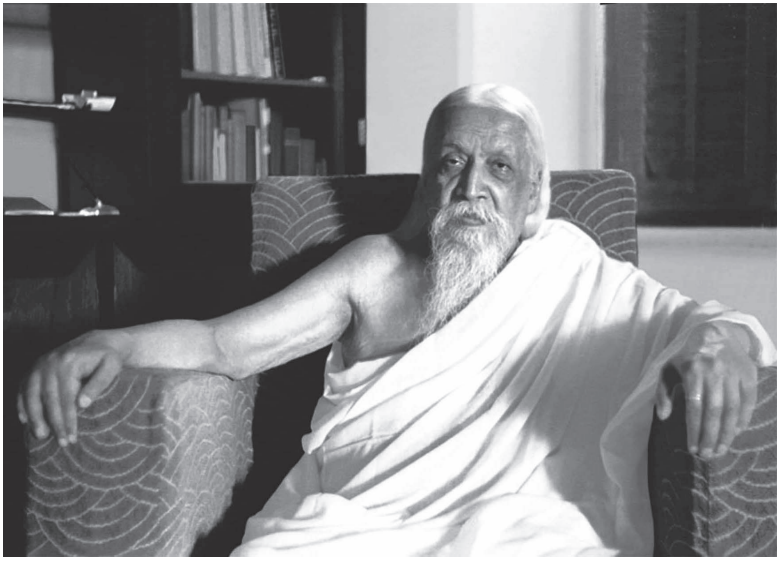

भगवान् द्वारा सब कुछ किया जा सकता है—हृदय और स्वभाव शुद्ध किये जा सकते हैं, आन्तरिक चेतना जाग्रत् की जा सकती तथा परदे दूर किये जा सकते हैं—यदि कोई भरोसे और विश्वास के साथ अपने को भगवान् के हाथों में अर्पण कर दे और यदि कोई तुरन्त पूर्ण रूप से ऐसा न कर सके फिर भी, जितना अधिक वह ऐसा कर सकेगा उतना ही अधिक आन्तरिक साहाय्य और पथ-प्रदर्शन उसे प्राप्त होगा तथा उसके अन्दर भगवान् का अनुभव बढ़ेगा। यदि सन्देहशील मन कम सक्रिय हो जाये और विनम्रता तथा समर्पण का संकल्प बढ़े तो ऐसा करना पूर्णतः सम्भव हो सकता है। तब एकमात्र इस वस्तु के सिवा किसी दूसरी शक्ति और तपस्या की आवश्यकता नहीं होती।

CWSA खण्ड २९, पृ. ६९ *श्रीअरविन्द*

पथ पर बढ़ना

समर्पण के द्वारा तादात्म्य

योग का अर्थ है, भगवान् के साथ सायुज्य, और यह सायुज्य आता है आत्मदान द्वारा—भगवान् के प्रति आत्मदान ही इसका आधार है। आरम्भ में तुम यह आत्मदान सामान्य रूप से शुरू करते हो, मानों सदा के लिए तुम्हारा यह काम पूरा हो गया; तुम कहते हो: "मैं भगवान् का सेवक हूँ; मेरा जीवन पूर्ण रूप से भगवान् को दे दिया गया है, मेरे सभी प्रयत्न 'दिव्य जीवन' की प्राप्ति के लिए हैं।" पर यह तो केवल पहला क़दम है; क्योंकि इतना ही पर्याप्त नहीं है। इस संकल्प के बाद भी, इस निश्चय के बाद भी कि तुम अपने समग्र जीवन को भगवान् के अर्पण कर दोगे, तुम्हें यह बात अपने जीवन में प्रत्येक क्षण याद रखनी होगी और प्रत्येक ब्योरे में चरितार्थ करनी होगी। तुम्हें प्रत्येक पग पर यह अनुभव होना चाहिये कि तुम भगवान् के हो; तुम्हें हमेशा यह अनुभूति होनी चाहिये कि तुम जो कुछ भी सोचते या करते हो, उसमें हमेशा 'भागवत चेतना' ही तुम्हारे द्वारा कार्य करती है। अपनी कह सकने के लिए अब तुम्हारे पास कोई चीज़ नहीं होती; हर चीज़ भगवान् के यहाँ से आयी हुई अनुभव करो और उसे उसके मूल स्रोत की भेंट कर दो। इस अनुभूति को प्राप्त कर लेने पर अत्यन्त सामान्य-से-सामान्य चीज़ जिस पर तुम ध्यान नहीं देते या जिसकी साधारणतः परवाह नहीं करते, वह भी अकिंचन या तुच्छ नहीं रह जाती, वह अर्थपूर्ण हो जाती है और दूर-दूर तक देख सकने के लिए एक विशाल क्षितिज खोल देती है।

सामान्य रूप से किये गये आत्मदान को जीवन के प्रत्येक ब्योरे में लाने का तरीक़ा यह है: हमेशा भगवान् की उपस्थिति में ही निवास करो; इस अनुभूति में रहो कि यह उपस्थिति ही तुम्हारी प्रत्येक क्रिया को गति देती है और जो कुछ तुम करते हो उसे वही कर रही है। अपने सभी क्रिया-कलापों को इसी को समर्पित कर दो, केवल प्रत्येक मानसिक क्रिया, प्रत्येक विचार और भाव को ही नहीं, बल्कि अत्यन्त साधारण और बाह्य क्रियाओं को भी; उदाहरणार्थ, भोजन भी उसी को अर्पित कर दो; जब तुम भोजन करो तो तुम्हें अनुभव होना चाहिये कि इस क्रिया में तुम्हारे द्वारा भगवान् ही

भोजन कर रहे हैं। जब तुम इस प्रकार अपनी समस्त प्रवृत्तियों को एक 'अखण्ड जीवन' में एकत्रित कर सकोगे तब तुम्हारे अन्दर भेदभाव की जगह एकता होगी। तब यह अवस्था न रहेगी कि तुम्हारी प्रकृति का एक भाग तो भगवान् को समर्पित हो और बाक़ी भाग अपनी साधारण वृत्तियों में पड़े रहें और साधारण चीज़ों में लिप्त रहें, बल्कि तब तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को भगवान् अपने हाथ में ले लेंगे और क्रमशः तुम्हारी प्रकृति का सम्पूर्ण रूपान्तर होने लगेगा।

पूर्ण समर्पण की आवश्यकता

पूर्ण योग में छोटे-से-छोटे ब्योरे के साथ सम्पूर्ण जीवन का रूपान्तर करना होगा, उसे दिव्य बनाना होगा। यहाँ कोई चीज़ नगण्य या तुच्छ नहीं है। तुम यह नहीं कह सकते : "जब मैं ध्यान करता हूँ, दर्शनशास्त्र-सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ता हूँ या ऐसे वार्तालाप सुनता हूँ तब तो मैं भागवत ज्योति की ओर खुलने और उसे बुलाने की अवस्था में रहूँगा, किन्तु जब मैं टहलने जाऊँ या किसी मित्र से मिलूँ तब मैं इन बातों को भुला सकता हूँ।" इस भाव को बनाये रखने का अर्थ होगा कि तुम्हारा रूपान्तर कभी न हो सकेगा और तुम्हें भगवान् के साथ सच्चा सायुज्य कभी प्राप्त न होगा। तुम्हारे सदा दो भाग बने रहेंगे; अधिक-से-अधिक तुम्हें इस महत्तर जीवन की कुछ झाँकियाँ मिल सकेंगी। हो सकता है कि ध्यान के समय तुम्हें अपनी आन्तरिक चेतना में कुछ अनुभूतियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त हो जायें, पर तुम्हारा स्थूल शरीर और तुम्हारा बाह्य जीवन तो रूपान्तरित हुए बिना ही रह जायेगा। जिस आन्तर प्रकाश का शरीर और बाह्य जीवन पर कोई असर नहीं होता वह किसी विशेष उपयोग का नहीं होता, क्योंकि वह तो जगत् को जैसा-का-तैसा छोड़ देता है। ...

इस प्रकार का आदर्श उनके लिए भले ठीक हो जो इसे चाहते हैं, किन्तु यह हमारा योग नहीं है। क्योंकि हम इस जगत् पर तथा इसकी समस्त गतियों पर भगवान् की विजय चाहते हैं और यहीं, इस पार्थिव जगत् में ही भगवान् की उपलब्धि चाहते हैं। परन्तु यदि हम भगवान् के राज्य के लिए इच्छुक हों तो हम जो कुछ हैं, जो कुछ हमारे पास है और जो कुछ हम करते हैं, उस सबको हमें भगवान् के अर्पण कर देना चाहिये। यह सोचने

से काम नहीं चलेगा कि कोई बात गौण है अथवा बाह्य जीवन और उसकी आवश्यकताओं से दिव्य जीवन का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हम ऐसा मानें तो हम वहीं पड़े रहेंगे जहाँ सदा से पड़े रहे हैं और इस बाह्य जगत् पर कभी विजय नहीं मिलेगी, उसमें कोई चिरस्थायी काम न हो पायेगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. २७-२९

सतत स्मरण

योग-साधना के आरम्भ में बहुत सम्भव है कि तुम बहुधा भगवान् को भूल जाओ। परन्तु सतत अभीप्सा के द्वारा तुम अपनी स्मृति को बढ़ाते और विस्मृति को घटाते हो। परन्तु यह किसी कठोर तपस्या या कर्तव्य के रूप में नहीं करना चाहिये, यह साधना प्रेम और आनन्द की एक सहज अभिव्यक्ति होनी चाहिये। तब शीघ्र ही एक ऐसी अवस्था आ जायेगी कि अगर तुम प्रत्येक क्षण और प्रत्येक कार्य में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करो तो तुम तुरत अपने-आपको अकेला, उदास और दुःखी अनुभव करने लगोगे।

जब भी तुम्हें यह दिखायी दे कि तुम भगवान् की उपस्थिति का अनुभव किये बिना ही कोई काम कर सकते हो और फिर भी चैन से रह सकते हो तभी तुम्हें समझ लेना चाहिये कि तुम्हारी सत्ता के उस भाग का अभी तक समर्पण नहीं हुआ है। यह तो साधारण मानव समाज का तरीक़ा है जिसे भगवान् की कोई ज़रूरत महसूस नहीं होती। परन्तु 'दिव्य जीवन' के साधक का मार्ग सर्वथा भिन्न है। और जब भगवान् के साथ तुम्हारी पूर्ण रूप से एकता हो जाये तो, यदि क्षण-भर के लिए भी भगवान् अपने-आपको तुमसे अलग कर लें तो तुम मृतप्राय हो जाते हो। क्योंकि तब भगवान् ही तुम्हारे प्राणों के प्राण, तुम्हारा समग्र अस्तित्व, तुम्हारा एकमात्र और सम्पूर्ण सहारा होते हैं। तब यदि भगवान् न हों तो तुम्हारे पास कुछ रह ही नहीं जाता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ३१-३२

शान्ति, समता, निष्कपटता और श्रद्धा

तुम जितने अधिक शान्त रहोगे उतने ही अधिक शक्तिशाली बनोगे। सभी आध्यात्मिक शक्तियों का सुदृढ़ आधार है समचित्तता। किसी चीज़

को अपना सन्तुलन न बिगाड़ने दो : तब तुम हर प्रकार के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकोगे। इसके अतिरिक्त, यदि तुम्हारे पास यथेष्ट विवेक-शक्ति हो और तुम विरोधी सुझावों को पास आते ही देख और पकड़ सको तो उन्हें निकाल बाहर करना और भी सहज हो जाता है; किन्तु कभी-कभी ये अलक्षित रूप से घुस आते हैं और तब इनसे युद्ध करना अधिक कठिन होता है। जब ऐसा हो तो तुम्हें स्थिर होकर बैठ जाना चाहिये और शान्ति तथा गभीर आन्तरिक स्थिरता का आवाहन करना चाहिये। अपने-आपको दृढ़ बनाये रखो, श्रद्धा तथा विश्वास के साथ भगवान् को पुकारो; यदि तुम्हारी अभीप्सा शुद्ध और स्थिर है तो तुम अवश्य सहायता प्राप्त करोगे।

विरोधी शक्तियों के आक्रमण अपरिहार्य हैं, तुम्हें इनको अपने मार्ग में परीक्षा के रूप में लेना और इन अग्नि-परीक्षाओं में से साहस के साथ गुज़रना चाहये। यह संघर्ष कठिन हो सकता है किन्तु जब तुम इसे पार करके बाहर निकलोगे तो देखोगे कि तुमने कुछ प्राप्त किया है, तुम एक क़दम आगे बढ़े हो। विरोधी शक्तियों के होने की भी एक आवश्यकता है। ये तुम्हारे निश्चय को अधिक दृढ़ और तुम्हारी अभीप्सा को अधिक स्पष्ट बनाती हैं।

फिर भी, यह सत्य है कि इनका अस्तित्व इसीलिए है कि तुमने इनके अस्तित्व के लिए कारण दे रखा है। जब तक तुम्हारे अन्दर कोई भी चीज़ ऐसी हो जो इनकी पुकार का उत्तर देती हो तब तक इनका हस्तक्षेप करना सर्वथा उचित है। यदि तुम्हारा कोई भी भाग इन्हें प्रत्युत्तर न दे, यदि तुम्हारी प्रकृति के किसी भी अंग पर इनका वश न हो तो ये शक्तियाँ लौट जायेंगी और तुम्हें छोड़ देंगी। परन्तु कुछ भी क्यों न हो, ये तुम्हारी आध्यात्मिक प्रगति को रोक या अटका नहीं सकतीं।

विरोधी शक्तियों से युद्ध में तुम्हारी पराजय एक ही कारण से हो सकती है और वह है भगवान् की सहायता में सच्चे विश्वास का न होना। अभीप्सा की सच्चाई आवश्यक सहायता को सदा ले ही आती है। शान्त आवाहन, यह विश्वास कि सिद्धि की ओर आरोहण में तुम कभी अकेले नहीं रहते और यह श्रद्धा कि जब कभी किसी सहायता की आवश्यकता होगी तो वह सदा उपस्थित होती है—तुम्हें सहज और निरापद रूप से पार लगा देंगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ३९-४०

क्षोभ और जल्दबाज़ी से पिण्ड छुड़ाना

यदि तुम 'भागवत चेतना' के साथ एक हो तो फिर किसी कार्य में चाहे मनुष्य की काल-गणना के हिसाब से एक हज़ार वर्ष लगें या केवल एक वर्ष, इसका कुछ भी महत्त्व नहीं रहता; क्योंकि, उस अवस्था में तुम मानव-प्रकृति की अवस्थाओं को बाहर छोड़ भागवत प्रकृति की अनन्तता और शाश्वतता में प्रवेश कर जाते हो। तब तुम जल्दबाज़ी की व्याकुलता से बच जाते हो जिससे मनुष्य जकड़े रहते हैं, क्योंकि वे काम को पूरा होते हुए देखना चाहते हैं। उद्वेग, उतावलेपन और बेचैनी से कुछ नहीं बनता। यह समुद्र पर फेन है; यह एक महान् उपद्रव है जो अपने-आपमें समाप्त हो जाता है। मनुष्यों को लगता है कि निरन्तर दौड़-धूप और कूद-फाँद किये बिना, कर्मण्यता के आवेश में उन्मत्त होकर कुछ-न-कुछ जोड़-तोड़ लगाये बिना वे कुछ कर ही नहीं रहे। यह समझना एक भ्रम है कि इन तथाकथित हलचलों से चीज़ें बदल सकती हैं। यह महज़ एक कटोरे को हाथ में उठा कर उसमें जल को थपेड़ना है। इस क्रिया से जल इधर-उधर अवश्य हिलेगा, किन्तु तुम्हारे इतने थपेड़े खाकर भी वह बदलेगा नहीं। कर्म का यह भ्रम मानव-प्रकृति के सबसे बड़े भ्रमों में से एक है। इससे प्रगति में बाधा पहुँचती है, क्योंकि इस भ्रम में पड़ कर तुम सदा किसी उत्तेजित काम में दौड़ पड़ने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते हो। काश, तुम इस भ्रम को जान जाओ और यह देख सको कि यह सब कितना निरर्थक है, कि इससे कुछ भी नहीं बदलता! इसके द्वारा तुम्हें कहीं कुछ नहीं प्राप्त हो सकता! जो इस प्रकार दौड़-धूप करते हैं वे ऐसी शक्तियों के खिलौने होते हैं जो उन्हें अपने आमोद के लिए नचाया करती हैं। और ये शक्तियाँ भी उत्तम कोटि की नहीं होतीं।

जगत् में जो कुछ भी किया गया है वह उन थोड़े-से लोगों के द्वारा ही किया गया है जो क्रियाओं के परे नीरवता में स्थित रह सके हैं; क्योंकि ऐसे लोग ही भागवत शक्ति के उपकरण होते हैं। ये सक्रिय प्रतिनिधि और सचेतन उपकरण हैं; ये उन शक्तियों को उतार लाते हैं जो जगत् का परिवर्तन करती हैं। कार्य इसी प्रकार किया जा सकता है, न कि चञ्चल कर्मण्यता द्वारा। शान्ति, स्थिरता और नीरवता की अवस्था में ही जगत् का निर्माण हुआ था और जब कभी किसी सच्ची चीज़ की रचना करनी होगी

तो उसे शान्ति, नीरवता और स्थिरता की अवस्था में ही करना होगा। यह समझना अज्ञान है कि जगत् के लिए कुछ कर सकने के लिए तरह-तरह की निरर्थक बातों के लिए परिश्रम करना और सुबह से शाम तक दौड़-धूप करना आवश्यक है।

एक बार तुम इन चक्कर खाती हुई शक्तियों से पीछे हट कर शान्त क्षेत्रों में पहुँच जाओ तो देखोगे कि यह कितना बड़ा भ्रम है। तब तुम्हें मानवजाति अन्धे प्राणियों के समूह-सी लगेगी जो यह जाने बिना कि वे क्या कर रहे हैं या क्यों कर रहे हैं, इधर-उधर दौड़-धूप करते फिरते हैं और एक-दूसरे के साथ केवल टकराते और ठोकरें खाते रहते हैं। और लोग इसी को कर्म और जीवन कहते हैं! यह थोथी हलचल है, कर्म नहीं, सत्य जीवन भी नहीं। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. ७६-७७

डर से पीछा छुड़ाना

एक बार जब तुम योग-मार्ग में प्रवेश करते हो तो तुम्हें समस्त भयों से मुक्त हो जाना चाहिये—अपने मन के भयों से, अपने प्राण के भयों से, एक-एक कोषाणु तक में भरे शरीर के भयों से मुक्त होना चाहिये। योग-मार्ग में तुम्हें जो ठोकरें खानी पड़ती हैं और आघात सहने पड़ते हैं उनका एक उपयोग यह भी है कि वे तुम्हें समस्त भयों से मुक्त कर दें। भय के कारण उस समय तक तुम पर ये बारम्बार हमला करते रहते हैं जब तक तुम इस योग्य न हो जाओ कि उनके सामने स्वतन्त्र, उदासीन, अछूते और शुद्ध होकर खड़े रह सको। किसी को समुद्र का भय होता है, कोई आग से डरता है। हो सकता है कि जो व्यक्ति अग्नि से डरता है उसे एक के बाद एक अनेकों भीषण अग्निकाण्डों का सामना करना पड़े, यहाँ तक कि वह इतना अभ्यस्त हो जाये कि इस काण्ड से उसके शरीर का एक भी कोषाणु तक न काँपे। जिस चीज़ से तुम्हारे अन्दर त्रास पैदा होता हो वह उस समय तक बारम्बार आती रहती है जब तक कि त्रास बिलकुल बन्द न हो जाये। जो रूपान्तरित होना चाहता है और जो इस योग-मार्ग का साधक है उसे पूरी तरह से भयमुक्त होना ही पड़ेगा, उसे ऐसा बनना पड़ेगा कि कोई, किसी प्रकार की चीज़ उसे उसकी प्रकृति के किसी भी भाग में छू या हिला न सके। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. ६५-६६

द्रुतगामी विकास

चैत्य सत्ता

चैत्य जगत् अथवा उसकी चेतना की भूमिका जगत् का वह भाग है, चैत्य पुरुष हमारी सत्ता का वह भाग है जो सदा 'भागवत चेतना' के प्रभाव में रहता है; विरोधी शक्तियाँ इस पर किसी प्रकार की ज़रा-सी क्रिया भी नहीं कर सकतीं। यह सामञ्जस्य का जगत् है और इसमें प्रत्येक वस्तु प्रकाश से प्रकाश की ओर तथा प्रगति से प्रगति की ओर गति करती है। यह 'भागवत चेतना' का, व्यक्ति में रहने वाली 'दिव्य आत्मा' का निवास-स्थान है। यह प्रकाश का, सत्य का, ज्ञान का, सौन्दर्य का और सामञ्जस्य का केन्द्र है जिसे 'दिव्य आत्मा' अपनी उपस्थिति के द्वारा हममें से हर एक के अन्दर थोड़ा-थोड़ा करके बनाती रहती है। यह 'भागवत चेतना' का एक अभिन्न अंग है और उसी के द्वारा प्रभावित, गठित और परिचालित होता है। यही तुममें से हर एक के अन्दर वह गभीर आन्तर सत्ता है जिसे अपने अन्दर रहने वाले भगवान् के सम्पर्क में आने के लिए तुम्हें ढूँढ़ना होगा। यह 'भागवत चेतना' और तुम्हारी बाह्य चेतना के बीच सम्बन्ध जोड़ती है; आन्तर जीवन को बनाती है, और बाह्य प्रकृति में 'भागवत संकल्प' के अनुसार व्यवस्था और नियम की अभिव्यक्ति करती है। यदि तुम अपने अन्दर रहने वाले चैत्य पुरुष से अपनी बाह्य चेतना में अवगत होकर उसके साथ एक हो जाओ तो तुम शुद्ध 'शाश्वत चेतना' को पा सकोगे और उसमें रह सकोगे; और साधारण मनुष्य की तरह सदा अज्ञान द्वारा चालित होने के बदले, तुम अपने अन्दर एक शाश्वत ज्योति और ज्ञान की उपस्थिति का अनुभव करोगे, और तुम इसी को आत्म-समर्पण करोगे और इसी को पूर्ण रूप से आत्म-निवेदन करके, इसी के द्वारा प्रत्येक कर्म में चालित होते रहोगे।

क्योंकि, चैत्य पुरुष तुम्हारा वह भाग है जो भगवान् को पहले ही अर्पित हो चुका है। इसका जो प्रभाव तुम्हारी चेतना की अत्यन्त बाह्य और स्थूल सीमाओं पर क्रमशः फैल रहा है, वही तुम्हारी सम्पूर्ण प्रकृति का रूपान्तर करेगा। यहाँ किसी प्रकार के अन्धकार को स्थान नहीं है, यह तुम्हारा ज्योतिर्मय भाग है। अधिकतर मनुष्य अपने अन्दर रहने वाले इस भाग से अनभिज्ञ हैं। योग-साधना तुम्हें इस भाग के प्रति सचेतन बनाने के

लिए है, ताकि तुम्हारे रूपान्तर की प्रक्रिया, शताब्दियों में पूर्ण होने वाले एक मन्द और लम्बे प्रयास के बदले एक ही जीवन अथवा कुछ ही वर्षों में पूरी होने वाली बन जाये।

चैत्य पुरुष वह है जो मृत्यु के बाद भी बना रहता है, क्योंकि यह तुम्हारा शाश्वत व्यक्तित्व है और यही चेतना को जन्म-जन्मान्तर में आगे बढ़ाता रहता है। चैत्य पुरुष तुम्हारे अन्दर स्थित सच्चे और भागवत व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व है। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. ७१-७२

प्रेम की शक्ति

जिस भागवत प्रेम के सम्बन्ध में मैं कह रही हूँ वह ऐसा 'प्रेम' है जो यहाँ इस भौतिक पृथ्वी पर, जड़-प्रकृति में अभिव्यक्त हो रहा है, किन्तु यदि उसे अवतरित होना है तो उसे मानव विकृतियों से सर्वथा मुक्त रहना चाहिये। अन्य सभी अभिव्यक्तियों की तरह इसके लिए भी प्राण एक अनिवार्य साधन है। परन्तु जैसा कि हमेशा हुआ है, इस अमूल्य वस्तु पर विरोधी शक्तियों ने अपना अधिकार जमा लिया है। प्राण की शक्ति ही इस मन्द और संवेदनशून्य जड़-प्रकृति में प्रविष्ट होकर उसे संवेदनक्षम तथा सजीव बनाती है। परन्तु विरोधी शक्तियों ने इसे विकृत कर दिया है; उन्होंने इसे हिंसा, स्वार्थ, कामना तथा हर प्रकार के भद्देपन का क्षेत्र बना दिया है, इसे भागवत कर्म में भाग लेने से रोक दिया है। बस, करने-लायक़ काम यही है कि हम इसे रूपान्तरित करें, इसकी गति का निग्रह अथवा नाश न करें। क्योंकि इसके बिना कहीं तीव्रता सम्भव नहीं है। हमारे अन्दर प्राण ही वह चीज़ है जिसका स्वभाव ही है अपने-आपको देना। प्राण ही वह तत्त्व है जिसमें हमेशा किसी चीज़ को लेने का आवेग तथा बल रहता है, इसी कारण जो वस्तु अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से उत्सर्ग कर सकती है, वह भी प्राण ही है; चूँकि वह अधिकार जमाना जानता है, इसलिए वह यह भी जानता है कि बिना कुछ बचाये हुए अपने-आपको कैसे दिया जाये। प्राण की सच्ची गति अन्य सभी गतियों से अधिक सुन्दर और अत्यन्त उत्कृष्ट है; किन्तु इसे तोड़-मरोड़ कर अत्यन्त भद्दा, अत्यन्त विरूप और अत्यन्त घृणास्पद बना दिया गया है। प्रेम-सम्बन्धी मानव कथाओं में जहाँ कहीं शुद्ध प्रेम का अणुमात्र भी प्रवेश हो पाया है और उसे बहुत अधिक विकार के

बिना अभिव्यक्त होने दिया गया है, वहीं हमें एक सत्य और सुन्दर वस्तु दीख पड़ती है। और यदि यह गति अधिक देर तक नहीं ठहरती तो इसका कारण यह है कि यह अपने उद्देश्य और खोज से सचेतन नहीं है; इसे यह ज्ञान नहीं है कि इसकी खोज का विषय एक सत्ता का दूसरी सत्ताओं के साथ ऐक्य नहीं, बल्कि समस्त सत्ताओं का भगवान् के साथ ऐक्य है।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ८३

सम्पूर्ण नव-निर्माण

यदि तुम्हारा लक्ष्य 'आत्मा' की मुक्ति में मुक्त होना है तो तुम्हें उन सब बन्धनों का त्याग करना चाहिये जो तुम्हारी सत्ता के आन्तरिक सत्य नहीं हैं, बल्कि अवचेतना की आदतों से आते हैं। यदि तुम अपने-आपको पूर्ण, निरपेक्ष और अनन्य भाव से भगवान् के अर्पण करना चाहते हो तो सम्पूर्ण रूप से करो; अपनी सत्ता के टुकड़ों को इधर-उधर बँधे न छोड़ दो। शायद तुम आपत्ति करो कि अपने बन्धनों को सम्पूर्ण रूप से काट डालना सहज नहीं है! परन्तु क्या तुमने कभी अपने भूतकाल की ओर दृष्टिपात नहीं किया और यह नहीं देखा कि इन थोड़े-से वर्षों में ही तुम्हारे अन्दर कितने परिवर्तन हुए हैं? इस तरह पीछे देखते समय प्रायः हमेशा तुम अपने-आपसे पूछते हो कि यह कैसे हुआ कि तुमने इस तरह अनुभव किया या अमुक परिस्थितियों में इस तरह काम किया। कभी-कभी अपने दस साल पहले के रूप को तुम पहचान भी नहीं सकते। तो फिर, जो कुछ था या है उसके साथ तुम अपने-आपको बाँध कैसे सकते हो अथवा पहले से ही यह कैसे नियत कर सकते हो कि भविष्य में क्या होगा और क्या नहीं? तुम्हारे सभी सम्बन्ध चुनाव की आन्तरिक स्वतन्त्रता के आधार पर नये सिरे से स्थापित होने चाहियें। वे परम्पराएँ जिनमें तुम पले हो या रहते हो, वे परिस्थिति के दबाव द्वारा या सर्वसाधारण मन द्वारा अथवा दूसरों की रुचि द्वारा तुम पर लादी गयी हैं। तुमने एक प्रकार से बाध्य होकर ही इन्हें स्वीकारा है। स्वयं धर्म भी मनुष्यों पर लादी हुई चीज़ है; इसे प्रायः कोई धार्मिक भय अथवा आध्यात्मिक या अन्य प्रकार की विभीषिका का भाव पीछे से सहारा दिये रहता है। भगवान् के साथ तुम्हारे सम्बन्ध में इस प्रकार के दबाव का कोई स्थान नहीं हो सकता; यह सम्बन्ध सर्वथा स्वतन्त्र, तुम्हारे मन

और प्राण की पसन्दगी के अनुसार, उत्साहपूर्ण तथा आनन्द से भरा होना चाहिये। वह कैसा एकत्व होगा जिसमें कोई काँपते हुए कहे : "मैं बाध्य होकर कर रहा हूँ, मेरे पास और उपाय ही नहीं है?" सत्य स्वतःसिद्ध है और उसे जगत् पर लादने की आवश्यकता नहीं। उसे मनुष्यों के द्वारा स्वीकारे जाने की आवश्यकता नहीं महसूस होती; वह स्वतःस्थित है, वह अपने बारे में लोगों की राय या उनक् समर्थन के कारण नहीं जीता।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ९३-९४

योग और बीमारी

योग-साधना करने वाले व्यक्ति के अन्दर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपान्तर के कार्य में उसकी सहायता करती है, वह अनेक प्रकार से कार्य करती है और इस शक्ति की क्रिया के परिणाम इसे ग्रहण करने वाले स्वभाव पर तथा उसके अन्दर जो कार्य किया जाने वाला है उस पर निर्भर हैं। सबसे पहले, यह शक्ति साधक में जो कुछ रूपान्तरित होने के लिए तैयार है उस सबके रूपान्तर में एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो तो इस योग-शक्ति का स्पर्श पाकर वह शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्राणमय चेतना तैयार हो तो उसका भी, यहाँ तक कि उसके शरीर का भी, परिवर्तन उसी वेग के साथ होने लगता है। परन्तु योग की रूपान्तर करने वाली शक्ति शरीर में एक हद तक ही काम करती है; क्योंकि शरीर की ग्रहणशीलता सीमित है। विश्व के अत्यन्त जड़-प्राकृतिक स्तर की अभी तक यह अवस्था है कि उसमें ग्रहणशीलता के साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रा में मिला हुआ है। परन्तु सत्ता के एक भाग में जो तीव्र प्रगति होती है उसका यदि दूसरे भागों की तदनुरूप प्रगति द्वारा अनुसरण न हो तो स्वभाव में एक असामञ्जस्य पैदा हो जाता है, कहीं पर शृंखला-भंग हो जाता है; और जहाँ कहीं या जब कभी यह शृंखला-भंग होता है तो वह किसी-न-किसी व्याधि का रूप धारण कर सकता है। इस शृंखला-भंग के स्वरूप पर ही रोग का स्वरूप निर्भर होता है। एक प्रकार के असामञ्जस्य का असर मन पर पड़ता है और इससे जो विक्षोभ होता है उसके कारण उन्माद तक हो सकता है; दूसरा असामञ्जस्य ऐसा होता

है जिसका असर शरीर पर पड़ता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमौरी तथा दूसरे छोटे-बड़े रोग हो सकते हैं।

एक ओर, योग-शक्तियों के कार्य द्वारा सत्ता के उन भागों में, जो अपने ऊपर कार्य करने वाली शक्ति को ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देने के लिए तैयार हैं, रूपान्तर की गति बढ़ जाती है। और इस प्रकार, योग समय की बचत करता है। सारा जगत् उत्तरोत्तर रूपान्तर की प्रक्रिया में है; और यदि तुम योग-साधना करने का निश्चय करते हो तो अपने अन्दर होती हुई इस प्रक्रिया में एक तेज़ी ले आते हो। जिस काम को साधारण रीति से करने में वर्षों लगेंगे वही योग के द्वारा चन्द दिनों में, यहाँ तक कि चन्द घण्टों में किया जा सकता है। परन्तु तुम्हारी आन्तर चेतना ही इस शीघ्रगामी आवेग के अधीन होती है; कारण, तुम्हारे आधार के उच्चतर भाग ही योग की द्रुत और एकाग्र गति का तत्परता के साथ अनुसरण करते हैं और इस गति के कारण उन्हें जो सतत रूप से उसके साथ एकरस होने और अनुकूलता स्थापित करने की आवश्यकता रहती है उसे अधिक सुगमता के साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर साधारणतया स्थूल, तमोगुणी और शिथिल होता है। यदि तुम्हारे इस भाग में कोई चीज़ ऐसी है जो उपर्युक्त गति का प्रत्युत्तर नहीं देती, यदि वहाँ कोई प्रतिरोध होता है, तो इसका कारण यह है कि शरीर बाक़ी सत्ता के साथ तेज़ी से नहीं चल सकता। इसे समय लगता है, जिस चाल से यह साधारण जीवन में चलता है उसी चाल से यौगिक जीवन में भी चलना चाहता है। यह वैसा ही होता है जैसे जवान लोग बच्चों के साथ तेज़ी से चल रहे हों; उन्हें समय-समय पर रुक जाना पड़ता है ताकि बच्चे, जो पिछड़ गये हैं, उनसे आ मिलें। आन्तरिक सत्ता की प्रगति और स्थूल शरीर की जड़ता का विरोध बहुधा शरीर में शृंखला-भंग कर देता है और रोग के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि योग-साधना करने वाले आरम्भ में अक्सर किसी-न-किसी प्रकार की भौतिक बेचैनी या गड़बड़ का अनुभव करते हैं। यदि ये लोग चौकसी रखें और सावधान रहें तो ऐसा होना ज़रूरी नहीं है। अथवा यदि शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूप से ग्रहणशील हो तो भी वे बच जाते हैं। परन्तु इतनी निर्मल ग्रहणशीलता पाना बहुत कठिन है जो भौतिक अंगों को भी आन्तरिक रूपान्तर के वेग के साथ-साथ लगातार चला सके; हाँ, यदि

शरीर को भूतकाल में यौगिक प्रक्रिया के लिए तैयार किया जा चुका हो तो और बात है। **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. ९६-९८

'कृपा' के प्रति समर्पण

परन्तु तुम जो कुछ भी करो, जिस किसी प्रक्रिया का उपयोग करो, चाहे उस प्रक्रिया का उपयोग करने में तुम्हें बड़ा भारी कौशल या सामर्थ्य ही क्यों न प्राप्त हो, फिर भी तुम्हें उसके फल को भगवान् के हाथों में ही छोड़ देना चाहिये। प्रयत्न तो तुम्हें सदा करते ही रहना चाहिये, किन्तु तुम्हारे प्रयत्न का फल देना या न देना भगवान् का काम है। यहाँ पर तुम्हारी अपनी ताक़त ख़त्म हो जाती है, यदि कोई परिणाम आता है तो उसे तुम्हारी अपनी शक्ति नहीं, बल्कि 'भागवत शक्ति' लाती है। तुम पूछते हो कि भगवान् से इन चीज़ों को माँगना उचित है या नहीं। यदि किसी नैतिक दोष को दूर करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करने में कोई हर्ज़ नहीं है, तो किसी भौतिक अपूर्णता को दूर करने के लिए भगवान् की ओर मुड़ने में क्या हर्ज़ है? परन्तु तुम जो कुछ माँगो, तुम्हारा जो कुछ भी प्रयास हो, उस समय भी जब तुम ज्ञान या शक्ति का प्रयोग करते हुए भरपूर प्रयास कर रहे होते हो, तुम्हें सदा यह अनुभव करना चाहिये कि परिणाम भगवान् की 'कृपा' पर निर्भर होता है। एक बार यदि तुमने इस योग को स्वीकार कर लिया है तो फिर तुम्हारे सभी काम पूर्ण आत्म-समर्पण के भाव से होने चाहियें। तुम्हारा भाव यह होना चाहिये : "मैं अभीप्सा करता हूँ, मैं अपनी अपूर्णताओं को दूर करने की कोशिश करता हूँ, मैं यथासम्भव सब करता हूँ, किन्तु फल के लिए मैं अपने-आपको सम्पूर्ण रूप से भगवान् के हाथों में सौंपता हूँ।" **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. १०९-१०

घृणा तथा अज्ञान से पिण्ड छुड़ाना

संसार ऐसी चीज़ों से भरा है जो सुखकर या सुन्दर नहीं हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य इन चीज़ों से दिन-रात घृणा करता रहे। घृणा, जुगुप्सा और भय की समस्त भावनाओं पर, जो मानव-मन को क्षुब्ध और दुर्बल करती हैं, विजय प्राप्त की जा सकती है। योगी को इन प्रतिक्रियाओं पर विजय प्राप्त करनी होगी, क्योंकि योग-मार्ग पर पहला

क़दम रखते ही यह माँग की जाती है कि तुम सभी प्राणियों, वस्तुओं और घटनाओं के सम्मुख पूर्ण समचित्तता रखो। तुम्हें सदा स्थिर, निर्लिप्त और अविचलित रहना चाहिये, इसी में योग का बल है। यदि तुम पूर्ण रूप से स्थिर और शान्त हो तो तुम्हारे सामने आने पर ख़तरनाक और ख़ूंख़ार पशु भी निरस्त्र हो जायेंगे।

विकर्षण अज्ञान की क्रिया है। यह आत्म-संरक्षण की एक नैसर्गिक चेष्टा है। परन्तु जो चीज़ तुम्हारा सबसे अधिक संरक्षण करती है वह है ज्ञान, किसी ख़तरे से बिना सोचे-विचारे दूर हट जाना नहीं बल्कि इस बात का ज्ञान कि ख़तरा कैसा है और साथ ही जिन साधनों से वह टल सकता है या निष्फल हो सकता है उन साधनों का सचेतन उपयोग। ये गतियाँ जिस अज्ञान में से जन्म लेती हैं वह एक साधारण मानव-अवस्था है, किन्तु उस पर विजय प्राप्त की जा सकती है; क्योंकि हम असंस्कृत मानव-प्रकृति से, जहाँ से हमारी बाह्य सत्ता का आरम्भ होता है और जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है, बँधे नहीं हैं।

बढ़ती हुई चेतना अज्ञान को दूर कर देती है। जिस चीज़ की तुम्हें ज़रूरत है वह है चेतना, सदैव अधिकाधिक चेतना, शुद्ध, सरल और ज्योतिर्मयी चेतना। इस प्रकार की पूर्णता-प्राप्त चेतना के प्रकाश में चीज़ें अपने असली रूप में दिखायी देती हैं, वैसी नहीं जैसी वे अपने को दिखाना चाहती हैं। यह प्रकाश एक चित्रपट की तरह होता है जो सामने से गुज़रती हुई चीज़ों को हूबहू दिखा देता है। वहाँ तुम देख पाते हो कि कौन-सी चीज़ ज्योतिर्मयी है और कौन-सी अन्धकारमयी, कौन-सी सीधी है और कौन-सी टेढ़ी। तुम्हारी चेतना एक चित्रपट या दर्पण बन जाती है; पर यह तब होता है जब तुम चिन्तन-मनन की अवस्था में केवल द्रष्टा-मात्र रहते हो; जब तुम सक्रिय होते हो तो यह चेतना 'सर्चलाइट' की तरह हो जाती है। यदि तुम्हें कहीं किसी चीज़ को साफ़-साफ़ देखना हो और उसकी अन्दरूनी जाँच-पड़ताल करनी हो तो बस इस 'सर्चलाइट' को जला दो।

इस प्रकार की पूर्ण चेतना को प्राप्त करने का उपाय है अपनी वास्तविक चेतना को उसके वर्तमान घेरे और सीमा से बाहर निकाल कर विशाल बनाना, उसे शिक्षित करना, उसे 'भागवत ज्योति' की ओर खोलना और उसमें 'भागवत ज्योति' को स्वतन्त्र और स्वच्छन्द रूप से काम करने

देना। परन्तु 'ज्योति' अपना पूरा और अबाधित कार्य तभी कर सकती है जब तुम समस्त लालसाओं और भय से मुक्त होओ, जब तुम्हारे अन्दर कोई भी मानसिक पक्षपात न हो, कोई प्राणिक पसन्द न हो, कोई भौतिक आशंका या आकर्षण न हो जो तुम्हें तमसाच्छन्न करे या बन्धन में डाले।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. ११३-१५

समर्पण तथा स्वार्पण

अपने जीवन का उत्तरदायित्व भगवान् को सौंप देने का निश्चय ही समर्पण है। इस निश्चय के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है; अगर तुम समर्पण न करो तो योग का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। बाक़ी सभी चीज़ें स्वभावतः उसके बाद आती हैं, सारी प्रक्रिया समर्पण से आरम्भ होती है। तुम ज्ञान के द्वारा या भक्ति के द्वारा समर्पण कर सकते हो। तुम्हें प्रबल अन्तर्भास हो सकता है कि केवल भगवान् सत्य हैं और एक ज्योतिर्मय विश्वास हो सकता है कि भगवान् के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता। या तुम्हारे अन्दर यह भाव सहज उठ सकता है कि सुखी होने का यही एकमात्र मार्ग है, एक प्रबल चैत्य इच्छा हो सकती है कि तुम पूरी तरह भगवान् के हो जाओ, तुम कहो: "मैं स्वयं अपना मालिक नहीं हूँ," और अपनी सत्ता की पूरी ज़िम्मेदारी सत्य को सौंप दो। इसके बाद आता है स्वार्पण: "यह रहा मैं, विविध गुणोंवाला, अच्छे-बुरे, काले-उजले गुणोंवाला प्राणी। मैं अपने-आपको तुम्हारे हाथों में अर्पित करता हूँ, जैसा हूँ वैसा ही देता हूँ, मेरी सब ऊँच-नीच, मेरे अपने परस्पर-विरोधी आवेगों और वृत्तियों के साथ मुझे स्वीकार कर लो—मेरे साथ जो चाहो करो।" अपनी आत्मार्पण की प्रक्रिया में तुम अपनी सत्ता को उस चीज़ के चारों ओर एकत्रित करने लगते हो जिसने पहला निश्चय किया था और वह है केन्द्रीय चैत्य संकल्प। तुम्हारी प्रकृति के सभी कर्कश तत्त्वों में समस्वरता लाने की ज़रूरत है। उन्हें एक-एक करके केन्द्रीय सत्ता के साथ एक करने की ज़रूरत है। तुम एक सहज गति के साथ अपने-आपको भगवान् के अर्पण कर सकते हो, लेकिन इस एकीकरण के बिना अपने-आपको प्रभावशाली ढंग से देना सम्भव नहीं है।

तुम जितने अधिक एकीकृत होओगे, उतना ही अधिक स्वार्पण करने-योग्य

होओगे। और एक बार स्वार्पण पूरा हो जाये तो आत्म-निवेदन की बारी आती है : यह उपलब्धि की प्रक्रिया का मुकुट है, सोपान की अन्तिम सीढ़ी है। इसके बाद कोई कठिनाई नहीं आती, सब कुछ आसानी से हो जाता है, लेकिन यह न भूलो कि तुम एकदम से पूर्ण आत्म-निवेदन नहीं कर सकते। दो-एक दिन के लिए किसी विशेष प्रकार की प्रबल गति हो तो तुम्हें इस प्रकार का भ्रम हो जाता है। तुम्हें यह आशा हो जाती है कि उसके परिणाम-स्वरूप सब चीज़ें अपने-आप होती चलेंगी। लेकिन वास्तव में, यदि तुम ज़रा भी आत्मसन्तुष्ट हो जाओ तो तुम अपने-आप अपनी प्रगति को रोकोगे। क्योंकि तुम्हारी सत्ता आपस में लड़ती-झगड़ती, युद्ध करती प्रवृत्तियों से भरी है जिन्हें हम विभिन्न व्यक्तित्व कह सकते हैं। जब उनमें से एक अपने-आपको भगवान् को देता है तो दूसरे भाग उठ कर भक्ति या निष्ठा अर्पित करने से इन्कार करते हैं। वे कहते हैं : "हमने अपने-आपको नहीं दिया," और वे अपनी स्वाधीनता और अपनी अभिव्यक्ति के लिए चिल्ल-पों मचाने लगते हैं। तब तुम उन्हें चुप रहने की आज्ञा दो और सत्य दिखा दो। तुम्हें बड़े धीरज के साथ अपनी सारी सत्ता का चक्कर लगाना पड़ेगा, हर स्थान की, हर कोने की तलाशी लेनी होगी, उन सभी अराजक तत्त्वों का सामना करना होगा जो तुम्हारे अन्दर मौक़ा पाते ही उभरने के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं। और तुम अपनी सभी कठिनाइयों का अन्त तभी ला सकोगे जब तुम अपनी मानसिक, प्राणिक और शारीरिक प्रकृति का पूरा चक्कर लगा चुकोगे, हर चीज़ को अपने-आपको भगवान् के सुपुर्द करने के लिए मना लोगे और इस तरह सम्पूर्ण एकीकृत आत्म-निवेदन की स्थिति प्राप्त कर लोगे। तब वास्तव में रूपान्तर की ओर तुम्हारी भव्य यात्रा होगी, क्योंकि तब तुम अन्धकार से ज्ञान की ओर नहीं, ज्ञान से ज्ञान की ओर, प्रकाश से प्रकाश की ओर, आनन्द से आनन्द की ओर चलोगे...। सम्पूर्ण आत्म-निवेदन आसान चीज़ नहीं है और यदि तुम्हें अपने ही भरोसे, अपने स्वतन्त्र प्रयास के द्वारा करना हो तो शायद इसमें बहुत ही अधिक समय लग जाये। लेकिन जब भागवत कृपा तुम्हारे साथ हो तो ठीक ऐसा नहीं होता। जब-तब भगवान् की ओर से ठीक दिशा में ज़रा-सा धक्का मिल जाये तो काम अपेक्षया सरल हो जाता है। समय की अवधि व्यक्ति-व्यक्ति पर आश्रित होती है, लेकिन अगर तुम सचमुच दृढ़

संकल्प ले लो तो यह बहुत कम हो सकती है। दृढ़ संकल्प ही अपेक्षित है—दृढ़ संकल्प ही है सर्वकुञ्जी।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४१-४३

त्याग

शास्त्रों में त्याग के बारे में बहुत कुछ कहा गया है—तुम्हें सम्पत्ति को त्यागना चाहिये, आसक्तियों को त्यागना चाहिये, इच्छाओं को त्यागना चाहिये। लेकिन मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची हूँ कि जब तक तुम्हें कोई चीज़ त्यागनी पड़े तब तक तुम इस मार्ग पर नहीं हो, क्योंकि, जब तक तुम चीज़ों की वर्तमान स्थिति से पूरी तरह उकता नहीं गये हो और तुम्हें उन्हें त्यागने के लिए कोशिश करनी पड़ती है तब तक तुम अतिमानसिक योग के लिए तैयार नहीं हो। अगर तुम्हें 'अधिमानस' की रचनाएँ—उसकी बनायी हुई यह दुनिया और इसकी वर्तमान व्यवस्था जिसे वह सहारा दे रहा है—अब भी सन्तुष्ट करती हैं तो तुम अतिमानसिक उपलब्धि में भाग लेने की आशा नहीं कर सकते। सिर्फ़ तभी जब तुम्हें ऐसी दुनिया से विरक्ति हो जाये, तुम्हें वह असह्य और स्वीकार करने के अयोग्य लगे तभी तुम चेतना के रूपान्तर के लिए योग्य बनते हो। इसलिए मैं त्याग के विचार को कोई महत्त्व नहीं देती। त्याग का मतलब है ऐसी चीज़ को छोड़ना जिसका तुम्हारी दृष्टि में मूल्य है, जिसे तुम रखने-लायक़ समझते हो उसे फेंक देना। इसके विपरीत, तुम्हें यह लगना चाहिये कि यह दुनिया भद्दी, मूर्खताभरी, क्रूर और असह्य कष्टों से भरी है। एक बार तुम ऐसा अनुभव करो तो तुम्हारी सारी भौतिक चेतना, सारी शारीरिक चेतना, जो इस स्थिति को ऐसा नहीं रखना चाहती, इसे बदलना चाहेगी। वह चिल्ला उठेगी, "मैं कुछ और पाना चाहूँगी, कुछ ऐसी चीज़ जो सत्य, सुन्दर, आनन्द, ज्ञान और चेतना से भरी हो!" यहाँ सब कुछ एक अँधेरी अचेतना के सागर पर तैर रहा है। लेकिन जब तुम अपनी पूरी इच्छाशक्ति से, अपने पूरे निश्चय से, अपनी पूरी अभीप्सा और तीव्रता से केवल भगवान् को चाहोगे तो वे अवश्य आयेंगे। लेकिन यह केवल दुनिया को सुधारने की बात नहीं है। ऐसे लोग हैं जो शासन में परिवर्तन, सामाजिक सुधार और परोपकार के कामों के लिए शोर मचाते हैं। वे समझते हैं कि इससे दुनिया को ज़्यादा

अच्छा बना सकेंगे। **हम** एक नया जगत् चाहते हैं, एक सच्चा जगत् जो 'सत्य चेतना' की अभिव्यक्ति हो। और यह होगा, होना ही चाहिये, और जितनी जल्दी हो उतना अच्छा!

लेकिन यह केवल आत्मपरक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। सारे भौतिक जीवन का रूपान्तर होना चाहिये। जड़ जगत् केवल हमारे अन्दर चेतना का रूपान्तर नहीं चाहता। वास्तव में वह कहता है : "तुम आनन्द में चले जाते हो, ज्योतिर्मय बन जाते हो, दिव्य ज्ञान प्राप्त कर लेते हो; लेकिन इससे मैं नहीं बदलता। मैं तो तब भी नरक ही बना रहता हूँ जो मैं प्रायः हूँ ही!" चेतना का सच्चा रूपान्तर वह होगा जो दुनिया की भौतिक अवस्था को बदल देगा और उसे बिलकुल नयी सृष्टि बना देगा।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४३-४४

सहनशीलता ही आदर्श-वाक्य है

सहनशीलता तुम्हारा आदर्श-वाक्य हो : अपनी जीवनी शक्ति को—अपनी प्राण-सत्ता को—यह सिखाओ कि शिकायतें किये बिना, महान् उपलब्धि के लिए आवश्यक सब प्रकार की स्थितियों को सह ले। शरीर बहुत सहनशील दास है। वह लद्दू जानवर की तरह चुपचाप परिस्थितियों के भार को ढोता रहता है। प्राण-सत्ता ही हमेशा बेचैन रहती और बुड़बुड़ाती है। वह शरीर को बेहिसाब यातनाओं और दासता में जकड़ती है। वह बेचारे शरीर को अपनी झक और तरंग के अनुसार कितना तोड़ती-मरोड़ती है और बड़े असंगत ढंग से यह माँग करती है कि हर चीज़ को उसकी सनक के अनुसार रूप दिया जाये! परन्तु सहनशीलता का सारतत्त्व यह है कि प्राण अपनी मनमानी पसन्द, नापसन्द को छोड़ कर, अत्यन्त कष्टकर स्थितियों के बीच भी धीरज और समबुद्धि बनाये रख सके। यदि कोई तुम्हारे साथ बुरी तरह व्यवहार करे या तुम असुविधा से बचाने वाली किसी चीज़ से वञ्चित रहो तो अपने-आपको घबराने न दो, हँसी-ख़ुशी से सह लो। कोई भी चीज़ तुम्हें ज़रा भी परेशान न करने पाये और जब कभी प्राण आडम्बरपूर्ण अतिशयोक्तियों के साथ अपनी छोटी-मोटी शिकायतों का दफ़्तर खोले तो ज़रा रुक जाओ और यह सोचो कि दुनिया के बहुत सारे लोगों की तुलना में तुम कितने अधिक सुखी हो। क्षण-भर के लिए सोचो,

पिछले युद्ध में जिन सैनिकों ने भाग लिया था उन पर क्या बीती थी। अगर तुम्हें इस प्रकार की कठिनाइयाँ सहनी पड़तीं तो तुम्हें पता चलता कि तुम्हारा असन्तोष कितना मूर्खतापूर्ण है। फिर भी मैं यह नहीं चाहती कि तुम कठिनाइयों के साथ दोस्ती करो—मैं सिर्फ़ इतना ही चाहती हूँ कि तुम अपने जीवन की ज़रा-ज़रा सी नगण्य कठिनाइयों को सहना सीखो।

सहनशीलता के बिना कभी कोई बड़ा काम पूरा नहीं हुआ।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १५०-५१

उचित मनोवृत्ति

क्या सचमुच जो कुछ होता है अच्छे-से-अच्छा ही होता है?... यह तो स्पष्ट ही है कि जो कुछ हुआ है उसे होना ही था: इससे भिन्न न हो सकता था—वैश्व नियति के कारण उसे होना ही था। लेकिन यह बात हम तभी कह सकते हैं जब वह हो चुके, उससे पहले नहीं। क्योंकि "जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छे" की समस्या व्यक्तिगत समस्या है, यह व्यक्ति भले एक मनुष्य हो अथवा एक राष्ट्र। सब कुछ व्यक्तिगत मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। यदि जो होने वाला है उसकी परिस्थिति में तुम अपने लिए अधिक-से-अधिक सम्भव ऊँची मनोवृत्ति अपना सको—अर्थात्, यदि तुम अपनी चेतना को अपनी पहुँच की ऊँची-से-ऊँची चेतना के सम्पर्क में ला सको तो, पूरी तरह निश्चय रखो, जो होगा वह जो हो सकता है उसमें अच्छे-से-अच्छा होगा। लेकिन जैसे ही तुम उस चेतना से निचले स्तर पर गिर पड़ो वैसे ही जो होगा वह स्पष्टतः अच्छे-से-अच्छा न होगा और कारण स्पष्ट है—तुम अपनी अच्छी-से-अच्छी चेतना में नहीं हो...। मैं निश्चयपूर्वक यहाँ तक कह सकती हूँ कि हर एक के तात्कालिक प्रभाव के क्षेत्र में उचित मनोवृत्ति में इतनी शक्ति होती है कि वह हर परिस्थिति को लाभदायक बना सके, इतना ही नहीं, वह स्वयं परिस्थिति को बदल तक सकती है। उदाहरण के लिए, अगर कोई तुम्हें मारने आये, उस समय तुम यदि साधारण चेतना में रहो और डर कर होशो हवास खो बैठो तो सम्भवतः वह जो कुछ करने के लिए आया है उसमें सफल हो जायेगा; अगर तुम ज़रा ऊपर उठ सको और डर से भरे होते हुए भी भागवत सहायता को बुलाओ तो वह ज़रा-सा चूक जायेगा या तुम्हें ज़रा-सी चोट

ही पहुँचा पायेगा; लेकिन अगर तुम्हारे अन्दर उचित मनोवृत्ति हो और तुम्हारे चारों ओर हर जगह भागवत उपस्थिति की पूरी चेतना हो तो वह तुम्हारे विरुद्ध उँगली भी न उठा सकेगा।...

मैंने देखा है कि एक अकेले आदमी की उचित मनोवृत्ति के कारण जन-समूह महाविपत्ति से बच गये हैं। लेकिन यह ऐसी अभिवृत्ति होनी चाहिये जो शरीर को उसकी हमेशा होने वाली प्रतिक्रियाओं में छोड़ कर कहीं किन्हीं ऊँचाइयों पर नहीं रहती। अगर तुम इस तरह ऊँचाइयों पर रहो और कहो, "भगवान् की इच्छा पूरी हो", तो हो सकता है कि इसके होते हुए भी तुम मारे जाओ। क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारा शरीर बिलकुल अदिव्य हो और भय से काँपता रहे। ज़रूरी बात यह है कि सत्य चेतना को स्वयं शरीर के अन्दर प्रतिष्ठित किया जाये, ज़रा भी भय न हो, और सत्ता में भागवत शान्ति भरी हो। तब वास्तव में कोई ख़तरा नहीं है।

कल्पना की शक्ति

कल्पना वास्तव में मानसिक रचनाएँ बनाने की शक्ति है। जब यह शक्ति भगवान् की सेवा में लगायी जाती है तो यह केवल रचनाएँ ही नहीं बनाती, बल्कि सृजन भी करती है। और फिर, अवास्तविक रचना जैसी किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक आकृति मानसिक स्तर पर एक सत्य ही होती है। उदाहरणार्थ, एक उपन्यास का सारा कथानक मानसिक स्तर पर भौतिक स्तर से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहता है। हममें से हर एक कुछ हद तक उपन्यासकार है और उसमें मानसिक स्तर पर आकार बनाने की क्षमता है; वास्तव में, हमारे जीवन का बहुत-सा भाग हमारी कल्पना-सृष्टि का ही मूर्त रूप है। प्रत्येक बार जब तुम किसी अस्वस्थ कल्पना में रस लेते हो, अपने भयों की रूपरेखा बनाते हो, दुर्घटनाओं और विपत्तियों की आशंका करते हो, तब तुम अपने भावी विनाश के लिए खाई खोदते हो। इसके विपरीत, तुम्हारी कल्पना जितनी अधिक आशापूर्ण होगी, अपने लक्ष्य को पूरा करना तुम्हारे लिए उतना ही अधिक सम्भव होगा। कूए महोदय को इस शक्तिशाली सत्य का ज्ञान हो गया था और उन्होंने सैकड़ों लोगों को केवल यह सिखा कर अच्छा कर दिया कि वे अपनी कष्टमुक्त स्थिति की कल्पना करें। एक बार उन्होंने एक स्त्री की घटना

सुनायी जिसके बाल झड़ते जा रहे थे। उसने अपने-आपको सुझाव देना शुरू किया कि मैं दिन-पर-दिन अच्छी हो रही हूँ और मेरे बाल निश्चय ही बढ़ रहे हैं। लगातार ऐसी कल्पना करने से उसके बाल सचमुच बढ़ने लगे, यहाँ तक कि और अधिक आत्म-सुझाव से वह जितना चाहती थी उससे कहीं अधिक लम्बे हो गये! मानसिक रचनाएँ बनाने की क्षमता योग में भी अत्यन्त उपयोगी है; जब 'भगवत्संकल्प' के साथ मन का सम्पर्क स्थापित हो जाता है, अतिमानसिक 'सत्य' मन और उच्चतम 'प्रकाश' के मध्यवर्ती स्तरों के द्वारा अवतरित होने लगता है और यदि मन में पहुँच कर यह उसके अन्दर रचनाएँ बनाने की क्षमता देखता है तो यह सहज ही मूर्त रूप धारण कर लेता है और तुम्हारे अन्दर सर्जनशील शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। अतएव, मैं तुमसे कहती हूँ कि उदास और निराश मत होओ; बल्कि ऐसा करो कि तुम्हारी कल्पना सदा आशापूर्ण और उच्चतर 'सत्य' के दबाव के प्रति सहर्ष नमनशील रहे, जिससे वह सत्य जब आये तो तुम्हें उन रचनाओं से परिपूर्ण पाये जो उसके सर्जनकारी प्रकाश को धारण करने के लिए आवश्यक हैं।

कल्पना एक चाकू के समान है जो अच्छे या बुरे कामों के लिए बरता जा सकता है। यदि तुम सदा इस विचार और भाव में निवास करो कि तुम्हारा रूपान्तर होने वाला है तो इससे तुम योग की प्रक्रिया में सहायक होगे। इसके विपरीत, यदि तुम निराश हो जाते हो और यह रोना रोते हो कि तुम योग्य नहीं हो अथवा तुम उपलब्धि को प्राप्त करने में असमर्थ हो, तो तुम अपनी सत्ता को विष से भरते हो। इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सत्य को ध्यान में रख कर ही मैं तुमसे यह कहते कभी नहीं थकती कि चाहे कुछ भी हो जाये, भगवान् के लिए निराश कभी मत होओ। बल्कि इस अटूट आशा और विश्वास में निवास करो कि जो कार्य हम कर रहे हैं वह सफल होकर रहेगा। दूसरे शब्दों में, श्रीअरविन्द में तुम्हारी श्रद्धा तुम्हारी कल्पना को ढाले और रूप दे। क्या ऐसी श्रद्धा ही यह आशा और विश्वास नहीं है कि श्रीअरविन्द का संकल्प पूरा होकर रहेगा, उनके रूपान्तर के कार्य का परिणाम परम विजय के सिवाय और कुछ नहीं हो सकता और जिसे वे अतिमानसिक जगत् कहते हैं वह इसी भूतल पर उतरेगा तथा अभी और इसी जीवन में हममें चरितार्थ होगा? **'श्रीमातृवाणी'** खण्ड ३, पृ. १६६-६९

सच्चा आध्यात्मिक जीवन

कामनाएँ और सच्ची स्वतन्त्रता

समर्पण के विषय में बहुत से भ्रान्त विचार फैले हुए हैं। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करने का अर्थ है व्यक्तित्व का विसर्जन, किन्तु यह एक दुःखद भूल है। कारण, व्यक्ति के अस्तित्व का प्रयोजन है भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति, और इस पहलू के स्वभावगत धर्म के प्रकाशन से ही उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिए भगवान् की ओर उचित भाव रखने से यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करने वाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और अधिक शक्तिसम्पन्न होकर, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगते हैं, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय सम्भव न होता जब वह सारे अज्ञान और अन्धकार से, निम्न प्रकृति की सारी गन्दगी और खोट से मिला हुआ था। अब उसका व्यक्तित्व ऊँचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है, उसकी क्षमता में वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकतर सम्भावनाएँ सिद्ध होने लगती हैं। परन्तु यह उदात्त करने वाला परिवर्तन लाने के लिए व्यक्ति को पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्व को बन्धन में डालता, नीचे की ओर गिराता और विरूप बनाता है; उसे अपने-आपमें से उन सब तत्त्वों को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओं से तथा उसके अन्धे, लँगड़े साधारण जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृति की सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न कर देती है। कामनाएँ दुर्बलता और अज्ञान की गतियाँ हैं और ये तुम्हें तुम्हारी दुर्बलता तथा अज्ञान से बाँधे रखती हैं। लोगों की धारणा है कि कामनाएँ उनके अपने अन्दर उत्पन्न होती हैं; वे महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अपने-आपमें से पैदा होती हैं या उनके अपने अन्दर उठती हैं, किन्तु यह एक भूल है। कामनाएँ अन्धकारग्रस्त निम्न

प्रकृति के विशाल समुद्र की लहरें हैं और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में आती-जाती रहती हैं। मनुष्य कामना को अपने-आपमें पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उन पर चढ़ आया करती हैं; जो कोई इनके लिए खुला हो या जिसने अपने बचाव का प्रबन्ध न किया हो, वह इनकी पकड़ में आ जाता है और इनके थपेड़ों को खाता हुआ इधर-से-उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्य को अभिभूत करके, उस पर अधिकार जमा कर, उसे विवेक करने-लायक़ नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा पैदा कर देती है कि इसकी अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभाव का एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्य के सच्चे स्वभाव के साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगों के सम्बन्ध में यही बात है। ये भी वे गतियाँ हैं जो तुम्हें पकड़ लेती हैं, वे लहरें हैं जो तुम पर चढ़ आती और तुम्हें पराजित करती हैं; इनका सच्चे चरित्र या सच्चे स्वभाव से कोई सम्बन्ध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बना देती हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि ये इर्द-गिर्द के उन अन्धकारमय समुद्रों से आती हैं जिनमें निम्न प्रकृति की शक्तियाँ विचरण करती हैं। इन कामनाओं में, इन आवेशों में कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओं में ऐसी कोई चीज़ नहीं होती जो तुम्हारे लिए विशेष हो, ये इसी रूप में सबके अन्दर प्रकट होती हैं। मन की अज्ञानमयी गतियाँ, व्यक्तित्व को ढक देने वाली तथा उसकी वृद्धि और सार्थकता को क्षीण करने वाली भ्रान्तियाँ, सन्देह और कठिनाइयाँ भी, इसी स्रोत से आती हैं। ये गुज़रती हुई लहरें हैं और जो कोई इनकी पकड़ में आने के लिए और अन्धे उपकरण की तरह काम आने के लिए तैयार हो उसे पकड़ लेती हैं। फिर भी, प्रत्येक मनुष्य यह विश्वास लिये फिरता है कि ये गतियाँ उसका अपना अंग और उसके अपने स्वतन्त्र व्यक्तित्व की बहुमूल्य उपज हैं।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३१-३३

चैत्य सत्ता में निवास करो

चैत्य में रहने का अर्थ है सब प्रकार की लोभ-लालसा से ऊपर उठ जाना। तुम्हारे अन्दर कोई ललक, कोई चिन्ता, कोई उत्तेजना-भरी लालसा

न होगी और तुम यह अनुभव करोगे कि जो होता है अच्छे-से-अच्छे के लिए होता है। मुझे ग़लत मत समझो, इसका यह अर्थ न लगाओ कि तुम्हें यह मान लेना चाहिये कि हर चीज़ अच्छे-से-अच्छे के लिए ही है। जब तक तुम सामान्य चेतना में हो तब तक हर चीज़ अच्छे-से-अच्छे के लिए नहीं होती। जब तुम चेतना की सच्ची अवस्था में नहीं होते तब तुम्हें एकदम ग़लत रास्तों पर भटकाया जा सकता है। लेकिन एक बार तुम चैत्य में सन्तुलित हो जाओ और भगवान् के प्रति आत्म-समर्पण कर दो तो फिर जो कुछ होगा अच्छे-से-अच्छे के लिए होगा, तब हर चीज़, चाहे वह किसी भी छद्म रूप में क्यों न हो, निश्चित रूप से भगवान् का उत्तर होगी।

वास्तव में, सच्चे आत्म-समर्पण की क्रिया अपने-आपमें अपना प्रत्यक्ष पुरस्कार है—वह अपने साथ ऐसा आनन्द, ऐसा विश्वास, ऐसा संरक्षण लाती है जो और किसी चीज़ से नहीं मिल सकता। लेकिन जब तक आत्म-समर्पण पूरी तरह से चैत्य न हो तब तक गड़बड़ होती रहेगी, प्रकाशमान क्षणों के बीच अन्धकारमय क्षण आते रहेंगे। केवल चैत्य ही सीधी प्रगति करता जाता है, उसकी गति लगातार चढ़ाई की होती है। अन्य सभी गतियाँ टूटी हुई और अनिश्चित रहती हैं। और तुम तब तक सच्चे व्यक्ति भी नहीं बन सकते जब तक कि तुम चैत्य को ही अपना 'स्व' न अनुभव करो क्योंकि सचमुच वही तुम्हारे अन्दर सच्चा रूप है। जब तक तुम अपने सच्चे रूप को न जान लो तब तक तुम एक सत्ता नहीं, एक सार्वजनिक स्थान हो। तुम्हारे अन्दर बहुत सारी आपस में टकराती हुई शक्तियाँ काम करती हैं। इसलिए, अगर तुम सच्ची प्रगति करना चाहो तो अपनी निजी सत्ता को जानो जिसका हमेशा भगवान् के साथ ऐक्य रहता है और तभी रूपान्तर सम्भव होगा। तुम्हारी प्रकृति के बाक़ी सभी भाग अज्ञानी होते हैं : उदाहरण के लिए, मन हमेशा यह सोचने की भूल करता है कि हर प्रतिभाशाली विचार ज्योतिर्मय विचार है। वह एक से उत्साह के साथ भगवान् के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ दे सकता है : उसके अन्दर सत्य की भ्रमातीत भावना नहीं होती। प्राण साधारणतः किसी भी शक्ति-प्रदर्शन से प्रभावित हो जाता है और उसमें भगवान् के दर्शन करने के लिए तैयार रहता है। केवल चैत्य में ही सच्चा विवेक होता है। वह सीधे-सीधे परम सत्ता के बारे में सचेतन होता है, वह बिना किसी भ्रम के भगवान् और उनसे इतर

में फ़र्क कर सकता है। अगर क्षण-भर के लिए भी तुम्हारा उसके साथ सम्पर्क हो चुका है तो तुम्हें भगवान् के बारे में ऐसा दृढ़ विश्वास होगा जिसे कोई नहीं हिला सकता।

तुम पूछोगे कि हम अपनी सच्ची सत्ता को कैसे जानें? उसके लिए माँग करो, उसके लिए अभीप्सा करो। उसके लिए ऐसी चाह करो जैसी और किसी चीज़ के लिए न हो। यहाँ तुममें से अधिकतर लोग उससे प्रभावित हैं, लेकिन यह प्रभाव से कुछ अधिक होना चाहिये। तुम्हें उसके साथ एकता का अनुभव करना चाहिये। पूर्णता की प्यास वहीं से आती है, लेकिन तुम उसके स्रोत से अपरिचित हो, तुम उसे ज्ञानपूर्वक सहयोग नहीं दे रहे, तुम प्रकाश के साथ एक नहीं हो। यह न समझो कि जब मैं चैत्य की बात करती हूँ तो मेरा मतलब भावनामय भाग से है। भावना उच्चतर प्राण की चीज़ है, चैत्य की नहीं। चैत्य तुम्हारे अन्दर जलने वाली निष्कम्प ज्वाला है जो हमेशा भगवान् की ओर उठती है, उसमें शक्ति का भाव होता है जो सारे विरोध को तोड़ देता है। जब तुम उसके साथ एक होते हो तो तुम्हें भागवत सत्य की अनुभूति होती है—तब तुम यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकते कि सारी दुनिया अज्ञान में सिर के बल चल रही है और उसके पैर हवा में हैं!

तुम जिसे अपना व्यक्तिगत अहं मानते हो उसे अपने चैत्य व्यक्तित्व के साथ एक करना सीखना होगा। तुम्हारा वर्तमान व्यक्तित्व बहुत ज़्यादा मिश्रित है, परिवर्तनों की एक शृंखला है जिसमें बहाव के होते हुए भी एक निरन्तरता, एक अभिन्नता और स्पन्दनों का तादात्म्य है। यह एक नदी-जैसा है जो कभी वही-की-वही नहीं रहती, फिर भी उसमें एक निश्चितता और अपना स्थायित्व होता है। तुम्हारा सामान्य व्यक्तित्व तुम्हारे सच्चे व्यक्तित्व की छाया-मात्र होता है। तुम उस सच्चे व्यक्तित्व का अनुभव तभी कर सकते हो जब तुम्हारा प्रकट व्यक्तित्व, जो अलग-अलग समय अलग-अलग स्थानों में मँडराता है—कभी मन में तो कभी प्राण में और कभी शरीर में—चैत्य पुरुष के साथ सम्पर्क में आ सके और अनुभव करे कि वही वास्तविक सत्ता है। तब तुम एक बन सकोगे, कोई चीज़ तुम्हें हिला न सकेगी, बाधा न दे सकेगी, तुम स्थिर और स्थायी प्रगति कर सकोगे।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १३९-४१

भगवान् के साथ ऐक्य

जो शक्ति अज्ञान में समा कर प्राणिक इच्छाओं का रूप लेती है वह वही है जो अपने शुद्ध रूप में रूपान्तर की ओर बढ़ने और गति करने की प्रेरणा और ऊर्जा देती है। इसलिए एक ओर, तुम्हें यह सोच कर कि उन्हें सन्तुष्ट करना ज़रूरी है, इच्छाओं और कामनाओं में खुल खेलने से सावधान रहना चाहिये, और दूसरी ओर प्राणिक शक्ति को सुनिश्चित, अशुभ शक्ति मान कर उसे त्यागने से भी बचना चाहिये। तुम्हें करना यह चाहिये कि अपनी सत्ता के द्वार भगवान् की ओर पूरी तरह से खोल दो। जिस क्षण तुम कुछ छिपाते हो उसी क्षण सीधे 'मिथ्यात्व' में जा गिरते हो। तुम्हारी ओर से ज़रा-सा दबा देना भी तुम्हें सीधा अचेतना में घसीट लेता है। अगर तुम पूरी तरह सचेतन होना चाहते हो तो हमेशा 'सत्य' के सामने रहो—अपने-आपको पूरी तरह खोल दो और भरसक कोशिश करो कि वह तुम्हारे अन्दर गहराई में सत्ता के एक-एक कोने को देख सके। इसी से तुम्हारे अन्दर प्रकाश और सचेतनता आयेगी और वह सब आयेगा जो सत्य है। पूरी तरह विनयशील बनो—अर्थात्, तुम जो हो और तुम्हें जो होना चाहिये उन दोनों के बीच की दूरी को जानो। अपने अनगढ़ भौतिक मन को यह न सोचने दो कि वह जानता है जब कि वह नहीं जानता, कि वह निर्णय कर सकता है जब कि कर नहीं सकता। विनय में यह बात भी आ जाती है कि तुम अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो। उनसे सहायता माँग कर और अपने-आपको समर्पित करके स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व का अभाव प्राप्त कर लो। इससे मन को पूरी शान्ति मिलती है। किसी और तरीक़े से तुम 'भागवत चेतना' और 'भागवत संकल्प' के साथ ऐक्य पाने की आशा नहीं कर सकते।

'श्रीमातृवाणी' खण्ड ३, पृ. १४७-४८

स्वयं को श्रीमाँ के प्रति खुला रखो, हमेशा उनका स्मरण करो और अन्य सभी प्रभावों को अस्वीकार करके, उन्हीं की 'शक्ति' को अपने अन्दर कार्य करने दो—यही योग का नियम है।

CWSA *खण्ड २९, पृ. १०९* ***—श्रीअरविन्द***

'पुरोधा'

दैनन्दिनी

नवम्बर

१. सादगी में परम सौन्दर्य होता है। आध्यात्मिकता परम सादगी है।

२. यहाँ हम इसलिए हैं ताकि हम भगवान् की इच्छा को पूरा कर सकें और एक ऐसा जगत् बनाएँ जिसमें मानव-अविद्या से विकृत हुए बिना या प्राणिक इच्छाओं से विकृत या ग़लत रूप में परिवर्तित हुए बिना, भगवान् की इच्छा अभिव्यक्त हो सके।

३. भगवान् के प्रति निष्ठावान् बनो और तुम सतत शान्ति पा लोगे।

४. हम मार्ग पर जितना आगे बढ़ें, भागवत उपस्थिति की आवश्यकता उतनी ही अधिक अनिवार्य और अपरिहार्य बन जाती है।

५. मधुरता बिना शोर मचाये जीवन में मुस्कान ले आती है।

६. केवल तभी जब हम परेशान नहीं होते, हम हमेशा उचित वस्तु उचित समय पर तथा उचित तरीक़े से कर सकते हैं।

७. सचमुच शान्ति की बहुत अधिक आवश्यकता है—शान्ति के बिना सरल-से-सरल चीज़ भी एकदम से बात का बतंगड़ बना देती है।

८. स्वाधीनता है: अहंकार का लोप।

९. प्रतीक्षा करने का अर्थ है, समय को अपने साथ रखना।

१०. यदि मन सभी परिस्थितियों और सभी हालतों में शान्त रहे तो धैर्य अधिक आसानी से बढ़ेगा।

११. अध्यवसाय है, अन्त तक पहुँचने का निश्चय।

१२. ख़ुश हो उठो, सब कुछ ठीक हो जायेगा—अगर तुम डटे रहना जानो।

१३. आत्मदान सबसे सच्ची प्रार्थना है।

१४. कृतज्ञता: तुम्हीं सब बन्द द्वारों को खोलती हो और उस कृपा को, जो रक्षा करती है, गहराई में ले जाती हो।

१५. व्यक्ति की उदारता उसकी कृतज्ञता की क्षमता से नापी जाती है।

१६. श्रीमाँ की ओर अपने को खोलो और उनके साथ पूर्ण एकत्व बनाये रखो। उनके स्पर्श के प्रति अपने को सम्पूर्ण रूप में नमनशील बनाओ

ताकि वे तुम्हें शीघ्रता से गढ़ती हुई, परिपूर्णता की ओर ले जायें।

१७. सच्चा साहस है, अपने दोषों को पहचान लेना।

१८. सदा सत्यवादी बने रहने से बड़ा और कोई साहस नहीं है।

१९. प्रसन्न रहने की कोशिश करो और तुरन्त तुम ज्योति के निकट पहुँच जाओगे।

२०. हर क्षण अपना अच्छे-से-अच्छा करना और परिणाम भागवत निर्णय पर छोड़ देना—यही है शान्ति, सुख, बल, प्रगति तथा अन्तिम पूर्णता की ओर ले जाने वाला निश्चिततम मार्ग।

२१. भय हमेशा एक बुरा सलाहकार होता है।

२२. तथाकथित मानवीय बुद्धिमत्ता की समस्त जटिलताओं से ऊपर भागवत कृपा की ज्योतिर्मयी सरलता विद्यमान है और वह कार्य करने के लिए तैयार है—यदि हम उसे करने दें।

२३. परम प्रभु ने अपनी कृपा को जगत् में उसे उबारने के लिए भेजा है।

२४. अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को सौंप दो और तुम अपनी सारी कठिनाइयों का अन्त पा जाओगे।

२५. सभी पसन्दों और सीमाओं के परे एक पारस्परिक समझ और सहानुभूति का क्षेत्र है जहाँ सब लोग मिल कर अपना सामञ्जस्य पा सकते हैं : वह है भागवत चेतना के लिए अभीप्सा।

२६. किसी निश्चित लक्ष्य पर एकाग्र होना विकास में सहायक होता है।

२७. साहस आत्मा की उदात्तता का चिह्न है। लेकिन साहस को शान्त, स्वयं अपना स्वामी, उदार और शुभेच्छुक होना चाहिये।

२८. सारी गड़बड़ सन्तुलन के अभाव से आती है। अतः, हम हमेशा, हर परिस्थिति में, सावधानी के साथ अपना सन्तुलन बनाये रखें।

२९. मिथ्यात्व के लिए बस एक ही उपाय है : अपने अन्दर उस सबको धो डालो जो हमारी चेतना में भगवान् की उपस्थिति का विरोध करता है। आओ, हम अपने मिथ्यात्व को भगवान् को सौंप दें ताकि वे उसे आनन्दमय सत्य में बदल दें।

३०. जीवन की परिस्थितियों के बारे में शिकायतें करते रहना हमेशा ग़लत होता है, क्योंकि हम अपने-आप जो कुछ हैं वे परिस्थितियाँ उसकी बाहरी अभिव्यक्ति-मात्र होती हैं।

'दिव्य शरीर में दिव्य जीवन'

पिछले जन्म की स्मृति

जब कोई मनुष्य अपना भौतिक शरीर छोड़ता है तो उसका सूक्ष्म शरीर सूक्ष्म लोक में लगभग छह मास से तीन वर्ष तक रहता है। जब वह फिर से जन्म ले तो हो सकता है कि वह अपने सूक्ष्म शरीर के एक भाग को अपने साथ लेकर उस जन्म की स्मृति भी ले आये। लेकिन अगर सूक्ष्म शरीर और मानसिक शरीर विलीन हो जायें और चैत्य उसके बाद जन्म ले तो पिछले जन्म की स्मृति पाने के लिए व्यक्ति को अपने चैत्य के साथ सम्पर्क साधना होता है। वह अपने चैत्य के साथ सम्पर्क साध ले फिर भी उसे पूर्ण स्मृति तो न होगी क्योंकि चैत्य पिछले जन्मों के तत्त्व को ही, केवल उन घटनाओं की स्मृति को ही ले जाता है जिनका उसके विकास पर प्रभाव पड़ा है।

गीता का कहना है कि जब कोई मरता है तो उसका जीव उसके सारे जीवन के अनुभव उसी तरह लेता है जैसे हवा फूल की सुगन्ध को। वस्तुतः नये जीवन का निश्चय मृत्यु से पहले ही होता है। यह निश्चय तब नहीं होता जब चैत्य पुरुष चैत्य-लोक में विश्राम कर रहा हो। मृत्यु से ठीक पहले चैत्य तुम्हारे जीवन का हिसाब देखता है जैसे हम हिसाब का खाता देखते हैं। वह जीवन का जोड़-बाक़ी देखता है। इस बारे में भी माताजी ने एक सुन्दर उदाहरण दिया है। मान लो, तुम एक जीवन में राजा हो, तुम बहुत ज़्यादा जकड़े हुए हो और अपनी मरज़ी के अनुसार नहीं कर सकते। तुम अगले जन्म में अधिक स्वतन्त्र जीवन, साधारण जीवन बिताना चाहते हो, तो तुम एक साधारण परिवार में जन्म लेते और साधारण प्रगति करते हो। इस प्रकार के महत्त्वपूर्ण निश्चय मृत्यु के बाद नहीं, उसके समय लिये जाते हैं।

तो तुमको जानना चाहिये कि तुम अपनी प्रगति के लिये जो कुछ काम करते हो वह धरती पर भौतिक जीवन में ही किया जाता है। किसी गुरु की सहायता के बिना भौतिक जीवन की समाप्ति के बाद कोई काम या विकास नहीं होता। गुरु मृत्यु के बाद भी सहायता कर सकते हैं। वे व्यक्ति

को सहारा दे सकते हैं, उसके पुराने संस्कारों को मिटा सकते हैं और नया जन्म दे सकते हैं। जब मेरे एक परिचित की मृत्यु हुई तो माताजी ने मुझे बुलाया और मुझसे कहा, "मैंने इसकी उपलब्धि को पाँच-छह जीवन आगे बढ़ा दिया है। सामान्य रीति से उसे पाँचवे या छठे जीवन में उपलब्धि प्राप्त होती। मैंने चैत्य के उस भाग को, जिसे भगवान् के लिए अभीप्सा थी, अलग कर दिया और अन्य भागों को विलीन कर दिया। इसलिए अगले जन्म में ही इसे उपलब्धि हो जायेगी।"

इस प्रकार की सहायता केवल माताजी और श्रीअरविन्द जैसे गुरु ही दे सकते हैं। लेकिन हम भी उनके प्रति सम्पूर्ण समर्पण करके उस स्थिति तक पहुँचने की कोशिश कर सकते हैं। चूँकि योग समर्पण का मार्ग है इसलिए हमें भी उस स्थिति तक पहुँच सकना चाहिये। लेकिन एक फ़र्क होगा—हर एक की अभिव्यक्ति की राह अलग होगी। माताजी और श्रीअरविन्द की चेतना हर एक की चेतना के साथ, उसकी अभीप्सा और आवश्यकता के साथ मिल जायेगी। जैसे पानी और धूप हर पौधे के विकास में सहायक होते हैं परन्तु हर एक के बीज के अनुसार भेद तो होंगे। पर अगर हमारा समर्पण सम्पूर्ण है तो हमारे अन्दर उनकी शक्ति, उनका ज्ञान प्रकट होगा। जैसे-जैसे हमारा समर्पण पूर्ण होता जायेगा वैसे-वैसे भगवान् का मार्ग खुलता जायेगा। यही एकमात्र तरीक़ा है।

एक बार एक बच्चा माताजी के पास लाया गया। उसे देख कर माताजी ने मन ही मन कहा, इसका चेहरा परिचित है। तीसरे पहर माताजी ने एक अन्तर्दर्शन में ध्यान में देखा कि एक बहुत बड़ा मिस्री महल है जिसमें एक विशाल आँगन था, जिसमें एक नाला था और जिसमें से महल का पानी बहता था। नाले में उन्होंने एक बच्चे को खेलते देखा जिसका चेहरा ठीक उस बच्चे जैसा था जिसे माताजी ने दिन में पहले देखा था। उसके पीछे उन्होंने एक शिक्षक को आते देखा तो उससे पूछा, 'तुम इस बच्चे को इस जगह क्यों खेलने देते हो?' उसने जवाब दिया, 'एमेनहोटप को यह पसन्द है।' तब माताजी को पता लगा कि यह बच्चा एमेनहोटप था। इस तरह से पिछले जीवनों की चैत्य-स्मृतियाँ आया करती हैं।

मुझे याद है, एक बार मैं अपने एक मित्र के परिवार को माताजी के पास लेकर गया। जब माताजी उन सज्जन की पत्नी के पास पहुँचीं तो

उनके सामने तीन पीढ़ियाँ थीं, माँ, बेटा और उसके बच्चे। माताजी ने उन महिला से कहा, "मैं तुम्हें जानती हूँ। जब मैं मिस्र में थी तो तुम भी वहाँ थीं।" चैत्य सत्ता ऐसी बातें जानती है। तो जब हम चैत्य के साथ सम्पर्क करते हैं तो पिछले जन्मों की जानकारी भी पा लेते हैं।

आत्म-निरीक्षण में कुछ समय लगाना और अपनी आन्तरिक सत्ता को व्यवस्थित करना बहुत मज़ेदार होता है। जो लोग वैज्ञानिक तरीक़े से गम्भीरता से योग सीखना और उसका अभ्यास करना चाहते हैं उनके लिए यह बहुत ज़रूरी और आवश्यक भी है। मैं श्रीअरविन्द या अपने पूर्वजों से बढ़ कर ऐसा कोई वैज्ञानिक नहीं जानता जिनके लिए कोई चीज़ कल्पना नहीं, जिन्होंने हर चीज़ का अनुभव किया था।

यह आश्चर्य की बात है कि जब अन्तर के स्तर खुलते हैं तो ऐसे शब्द सुनायी देते हैं, ऐसे रूप दिखायी देते हैं, ऐसे रंग दिखायी देते हैं जो भौतिक स्तर पर देखे गये सभी रूपों, रंगों और ध्वनियों से ज़्यादा स्पष्ट, ज़्यादा ठोस होते हैं। वहाँ चीज़ें इतनी ज़्यादा ठोस होती हैं कि तुम वास्तव में देख-सुन और अनुभव कर सकते हो। अधिकतर लोग उन्हें स्वप्न में देखते हैं। योग में हम उन्हें केवल स्वप्न या ध्यान में नहीं बल्कि खुली आँखों से भी देखते हैं। जैसे-जैसे तुम विभिन्न स्तरों में खुली आँखों से जाना सीखते हो, वैसे-वैसे तुम उन स्तरों पर चीज़ें देखने लगते हो, और एक बार तुम दूर हट कर खड़े रहना जान लो तो तुम चीज़ों को ज़्यादा ठोस रूप में देखते हो; तुम अपने पड़ोस में बैठे व्यक्ति को जितनी आसानी से देख सकते हो उतनी ही आसानी से। चीज़ें आन्तरिक स्तरों में कैसे काम करती हैं इसके बारे में तुमको सन्देह नहीं रहता। अगर तुम अपने आन्तरिक स्तरों को नहीं जानते तो तुम अपने व्यक्तित्व को ठोस रूप कैसे दे सकोगे?
(क्रमशः)

—नवजातजी

हर एक के लिए सबसे अच्छी बात यह है कि वह जितनी अधिक सच्चाई से हो सके, प्रगति करे। भौतिक कष्ट रूपान्तर के कार्य का भाग हैं और उन्हें शान्ति के साथ स्वीकार कर लेना चाहिये।

—श्रीमाँ

मिट्टी की देह में

केवल 'देवत्व' को जागृत करने हेतु
उस परम ने परम का अंश-बीज बोया है।
अपनी रहस्यमयी लीला की संसिद्धि-हेतु
असंख्यों युगों से मिट्टी की इस देह में
परम का यह जादू-भरा खेल
इसीलिए है खेला जा रहा
कि खेल-खेल में सहसा मानव अनचले मार्गों को खोज ले।
कि खेल-खेल में अश्रुत वाणियों को सुन सके।
कि खेल-खेल में अदृश्य दृश्यों को देख ले।
कि खेल-खेल में अस्पृश्य तत्त्वों का स्पर्श कर ले।
कि खेल-खेल में अनछुई गहराइयों को छू ले।
जब तक मानव मन के कठोर पूर्वाग्रही विचारों
की तहें टूट न जातीं या
मानव मन के निम्न प्राण की क्षुद्र इच्छाएँ
भस्मीभूत होने ऊपर फूट न आतीं
तब तक कैसे हो सकती है यह सत्ता शान्त और नीरव?
शान्ति तथा नीरवता के पार्श्व में ही तो
छुपा हुआ है दिव्य गन्ध का यह सु'मन'
इसी सु'मन' के उर्वर जागरण-हेतु ही तो
युगों से मानव की अभंग अभीप्सा का
प्रयत्न धरती पर है चल रहा।
जिसके अरुणिम स्वर्णिम प्रकाश में,
उस परम को वह (मानव) है अभिव्यक्त कर रहा।
मानव में भगवान् की अभिव्यक्ति कोई खेल नहीं है।
जो हर क्षण शिशु बन कर परम प्रभु के साथ खेल खेल सकते हैं।
वे ही अपने अन्दर परम प्रभु की अभिव्यक्ति के
खेल में विजयी हो सकते हैं।

—डॉ. सुमन कोचर

ताकि वहाँ भी आपको पहचान लूँ...

नाइजीरिया के अरबपति Femi Otldol की ज़ुबानी में उनकी एक कहानी, या यूँ कहें, सच्ची घटना—

टेलीफ़ोन पर हुए एक साक्षात्कार में जब उनसे पूछा गया, 'सर, आप ऐसी कोई अमूल्य बात बतलाइये जिसने आपको जीवन की सबसे ज़्यादा ख़ुशी दी।' फ़ेमी ने कहा : मैं जीवन की ख़ुशी के चार पड़ावों से गुज़रा और आख़ीर में मेरे हाथों में जीवन की सच्ची ख़ुशी का सूत्र थमा।

पहला पड़ाव था—धन जुटाना, धन—अधिक धन पाने के साधन बढ़ाना। लेकिन इस अवस्था में मुझे मनमाफ़िक ख़ुशी नहीं मिली।

दूसरा पड़ाव आया—हीरे-जवाहरात, क़ीमती सामानों का ढेर लगाना; लेकिन मैंने देखा कि जीवन में इनका प्रभाव भी अस्थायी होता है, इनकी चमक-दमक भी हमेशा नहीं रहती।

फिर आया वह पड़ाव जब मैं बड़ी-बड़ी परियोजनाओं का हिस्सा बना —नाइजीरिया और अफ़्रीका की डीज़ल कम्पनियों का मैं ९५ प्रतिशत साझेदार था, अफ़्रीका और एशिया के सबसे बड़े जहाज़ का मालिक। लेकिन यहाँ भी मुझे वह ख़ुशी नहीं मिली जो मेरी कल्पना में बसी थी।

चौथा पड़ाव वह था जब मेरे एक दोस्त ने मुझसे कुछ २०० अपंग बच्चों के लिए 'व्हील चेयर' ख़रीदने को कहा। मित्र के कहे अनुसार मैंने फ़ौरन ख़रिदवा दीं।

जब कुर्सियाँ बाँटने का समय आया तो दोस्त ने आग्रह किया कि मैं साथ चल कर अपने हाथों से बच्चों को भेंट करूँ। मैं चला गया। बच्चों को थमाते हुए उनके चेहरों की दमक, उनकी आँखों की चमक ने मेरे रोम-रोम को महका दिया और जब मैंने उन्हें अपनी नयी मिली 'व्हील चेयर' पर बैठे इधर-से-उधर चकरघिन्नी की तरह घूमते, खिलखिलाते, दसों दिशाओं में किलकारियाँ बिखेरते देखा तब तो मैं निहाल हो उठा! उनकी उस ख़ुशी में मुझे लगा मानों मैंने कोई ख़ज़ाना लूट लिया हो। मेरी ख़ुशी का न अता था न पता। आख़िर जब मैं चलने को हुआ तब एक प्यारे से बच्चे ने मेरी पतलून अपनी मुट्ठी में पकड़ ली, मैं हलके से छुड़ाने को हुआ तो उसकी जकड़ और मज़बूत हो गयी और चेहरा उठा कर वह मुझे ताकने लगा।

मैं उसकी तरफ़ झुका, प्यार से उसके गाल को थपथपा कर मैंने उससे

पूछा—"बेटे, और कुछ भी चाहते हो क्या?"

कुछ देर तक टकटकी बाँधे वह मेरे चेहरे को देखता रहा फिर देवदूत की-सी मुस्कान, देवदूत की-सी वाणी में बोल उठा—

मैं आपका चेहरा याद करके अपने दिल में बसाना चाहता हूँ ताकि जब स्वर्ग में आपसे मुलाक़ात हो तो मैं आपको फ़ौरन पहचान कर वहाँ भी आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ।

'इंटरनेट' से साभार —वन्दना

परम प्रभु ने अपनी कृपा को जगत् में उसे उबारने के लिए भेजा है।

—श्रीमाँ

अग्निशिखा

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

वार्षिक शुल्क : एक वर्ष—२००रु.; तीन वर्ष—५८०रु.; पाँच वर्ष—९६०रु.

संस्थापक : श्रीअरविन्द सोसायटी

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी

प्रकाशक स्थल : सोसायटी हाउस, ११ सैं मार्तैं स्ट्रीट, पुदुच्चेरी ६०५००१

मुद्रण-स्थल : श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, नं. ३८, गूबैर ऐवेन्यू,
पुदुच्चेरी ६०५००१, भारत

सम्पादिका : वन्दना

Registered with the Registrar of Newspapers for India: No. 18135/70

दूरभाष संख्याएँ (०४१३) २३३६३९६-९७-९८

Email: info@aurosociety.org

Website: www. aurosociety.org

साभार :

फूलश्री देवड़ा सेवा कोश

रजनीगन्धा १३ ई

२५, बालीगंज पार्क, कोलकाता- ७०००१९

अज्ञान में जब आदमी दूसरों की बुराई करता है तो इससे वह अपनी चेतना को गिराता और अपनी अन्तरात्मा का अपमान करता है।

शिष्य को यही शोभा देता है कि मानसहित और विनीत मौन रखे।

श्रीमाँ

शुभ कामनाओं सहित

श्रीअरविन्द सोसाइटी राजस्थान राज्य समिति,
जयपुर ३०२०१९ (राजस्थान)
www.aurosocietyrajasthan.org

Sri Aurobindo Society
INDORE BRANCH
Creating the Next Future

विज्ञप्ति अनुरोध

'श्री अरविन्द-विश्व-निलयम्' नव-निर्माण हेतु

आदि शक्ति मां भगवती एवं परम प्रभु की असीम कृपा और आशीर्वाद से श्री अरविन्द सोसायटी पुदुचेरी शाखा इन्दौर द्वारा एअरपोर्ट के निकट सर्वे क्रमांक 126/8, छोटा बांगड़दा में अपने स्वामित्व की 13,495 वर्गफीट भूमि पर दिव्य समाज निर्माण की आध्यात्मिक गतिविधियों के संचालन हेतु एक शक्तिपीठ पूर्ण योग साधना एवं ध्यान केन्द्र श्री अरविन्द–विश्व– निलयम् के नव–निर्माण का कार्य 25 जनवरी 2021 से शुभारंभ हो चुका है।

आपको यह सूचित करते हुए अत्यंत हर्ष हो रहा है कि उक्त वृहद् कार्य –निर्माण के प्रथम चरण में तल मंजिल, प्रथम मंजिल एवं द्वितीय मंजिल जिसमें सर्व सुविधा युक्त हॉल, श्री माँ – श्री अरविन्द के दिव्य – ग्रन्थों की लायब्रेरी, अतिथि –कक्ष, किचन, डाइनिंग हॉल तथा एक रमणीय उद्यान में श्री अरविंद के दिव्य – देहांश की प्रतिष्ठा हेतु समाधि स्थल के निर्माण का लक्ष्य है। भविष्य में इसे विस्तार देने की योजना है।

इस दिव्य निर्माण कार्य की अनुमानित लागत 2.5 करोड़ रूपये है। यह कार्य सभी के सहयोग तथा सामूहिक प्रयास से ही संभव हो सकता है। आपके द्वारा दी गई दान–राशि को आयकर अधिनियम की धारा 80(G) के अंतर्गत छूट की सुविधा है।

आपकी दान–राशि "श्री अरविन्द सोसायटी इन्दौर" के नाम से Cash /Cheque /DD/ NEFT/ RTGS में स्वीकार कर रसीद प्रदान की जाएगी। आपका आर्थिक सहयोग इस दिव्य कार्य को गति प्रदान करेगा ।

निवेदक

चेअरपर्सन
डॉ.सुमन कोचर
sumankocher@rediffmail.com

सेक्रेटरी
मनोज कियावत
mkiyawat@gmail.com

Branch Office: 541, M. G. Road, Gorakund, OPP. ICICI Bank, Indore (M. P) – 452 002
Phone: 0731- 2452500, Mob: 9826067685 ,9826066520
Email: sasindore@aurosociety.org, Website: www.sriaurobindosocietyindore.com
Head Office: Puducherry – 605 001, Website: www.aurosociety.org

आप QR कोड स्केन करके भी डोनेशन कर सकते हैं।

Bank Details –
A/C Name - Sri Aurobindo Society Indore
SB A/C No.- 0325101016104
Bank Name – Canara Bank
Branch – M. G. Road Indore – 2 (M.P.)
IFSC Code - CNRB0000325

Date of Publication: 1st November 2022
Rs. 30 (Monthly)

Registered: PY/47/2021-23
RNI No. 18135/70

150

Azadi Ka Amrit Mahotsav

Scan for English

Scan for Hindi

THE TRANSFORMATION

A documentary on Sri Aurobindo,
who was considered the mastermind
by the British, for inspiring our leaders
to fight for independence.

नया जन्म

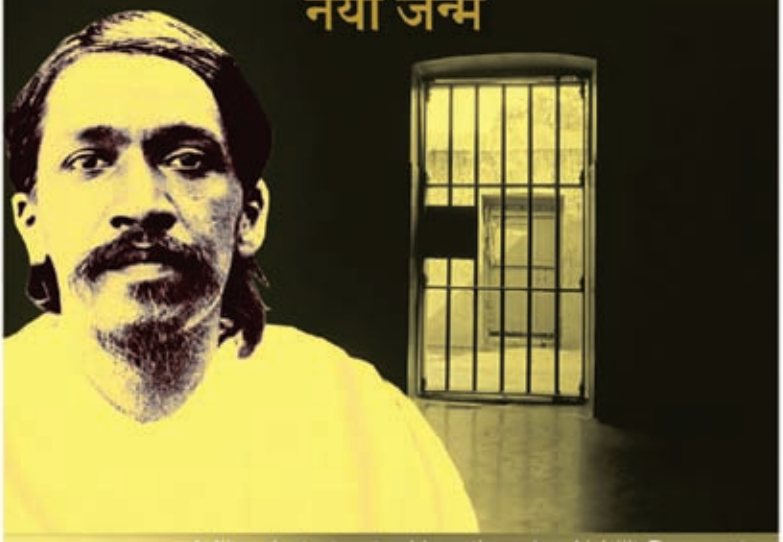

A film shot at actual locations by Abhijit Dasgupta

the film is produced by

Sri Aurobindo Society
Creating the Next Future

in collaboration with

Kolkata Sukriti Foundation
Reach the Unreached

watch on https://www.youtube.com/user/aurosocietypondy